ग्रन्थक्रम ।

पहले से विषय-सूची तक ग्रन्थ सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस में छपा ।

Saraswati Printing Press, Agra.

श्रीमान् रायबहादुर बद्रीदासजी जौहरी मुकीम, कलकत्ता ।

निवेदन ।

पाठकगण, इस पुस्तक के आरम्भ में जिन महानुभाव का फोटो देखेंगे वे जैनसमाज के अगुओं में से एक हैं। वे कलकत्ते के प्रसिद्ध जौहरी होने के उपरान्त, अन्य समाजों में भी आदरणीय गिने जाते हैं। उन्हों ने जो कुछ आर्थिक उदारता दिखलाई है उसका उपयोग कर्मग्रन्थ के इस अनुवाद में किया गया है। आगे भी अच्छे अच्छे पुराने और सर्वप्रिय ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद कराकर, जैनसाहित्य को सब के देखने योग्य बनाने की आन्तरिक अभिलाषा है। यदि श्रीमान् और विद्वानों का सम्मिलित प्रेम बराबर बढ़ता जायगा जैसी कि हमें आशा है, तो हम अपनी अभिलाषा को यथासाध्य शीघ्र सफल करने की चेष्टा करेंगे। जो महानुभाव लक्ष्मी से सरस्वती की—खासकर भगवान् महावीर की वाणी की पूजा करना चाहते हैं उनसे हमारा निवेदन है कि वे अपनी सदिच्छा को हमें जनावें; जिससे कि आगे तीसरे आदि सब कर्मग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य भी जो जो उपयोगी पुरातन या नवीन साहित्य है, उसको हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशित करने में उनकी लक्ष्मी का सदुपयोग किया जावे। इसका मूल्य करीब करीब लागत से भी कम है फिर भी अधिक जान पड़े तो समझना चाहिये कि कागज, छपाई आदि सब वस्तुयें आज कल बहुत मँहगी हैं।

हमारा उद्देश यथासम्भव सस्ते में हिन्दी-अनुवाद-सहित जैनसाहित्य प्रचारित करने का है, इसलिये उद्देश की तर्फ विशेष ध्यान दिया जाताहै ।

आत्मानन्द जैनपुस्तक प्रचारक मंडल.
रोशनमोहल्ला, आगरा ।

निवेदक—
तन्त्री.

वक्तव्य.

कर्मग्रन्थों का महत्त्व—यह सब को विदित ही है कि जैनसाहित्य में कर्मग्रन्थों का आदर कितना है। उनके महत्त्व के सम्बन्ध में इस जगह सिर्फ इतना ही कहना बस है कि जैन-आगमों का यथार्थ व परिपूर्ण ज्ञान, कर्मतत्त्व को जाने बिना किसी तरह नहीं हो सकता और कर्मतत्त्व का स्पष्ट तथा क्रम-पूर्वक ज्ञान जैसा कर्मग्रन्थों के द्वारा किया जा सकता है वैसा अन्य ग्रन्थों के द्वारा नहीं। इसीकारण कर्मविषयक अनेक ग्रन्थों में से छह कर्मग्रन्थों का प्रभाव अधिक है।

हिन्दी भाषा में अनुवाद की आवश्यकता—हिन्दी भाषा सारे हिन्दुस्तान की भाषा है। इसके समझने वाले सब जगह पाये जाते हैं। कच्छी, गुजराती, मारवाडी, मेवाडी, पंजाबी, बंगाली, मदरासी तथा मालवा, मध्यप्रान्त और यु० पी०, बिहार आदि के निवासी सभी, हिन्दी भाषा को बोल या समझ सकते हैं। कम से कम जैनसमाज में तो ऐसे स्त्री या पुरुष शायद ही होंगे जो हिन्दी भाषा को समझ न सकें। इस लिये सब को समझने योग्य इस भाषा में, कर्मग्रन्थ ऐसे सर्व-प्रिय ग्रन्थों का अनुवाद बहुत आवश्यक समझा गया। इस के द्वारा भिन्न भिन्न प्रांत-निवासी, जिन की मातृभाषा जुदा जुदा है वे अपने विचारों की तथा भाषा की बहुत अंशों

में एकता कर सकेंगे। इस के सिवाय सर्वप्रिय हिन्दी भाषा के साहित्य को चारों ओर से पल्लवित करने की जो चेष्टा हो रही है उस में योग देना भी आवश्यक समझा गया। दिगम्बरभाई अपने उच्च उच्च ग्रन्थों का हिन्दी भाषामें अनुवाद कराकर उसके साहित्य की पुष्टि में योग दे रहे हैं, और साथ ही अपने धार्मिक विचार, हिन्दी भाषा के द्वारा सब विद्वानों के सम्मुख रखने की पूर्ण कोशिश कर रहे हैं। श्वेताम्बरभाइयों ने अब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया, इसलिये श्वेताम्बरसम्प्रदाय का अच्छे से अच्छा सोहित्य, जो प्राकृत, संस्कृत या गुजराती भाषा में प्रकाशित हो गया है उससे सर्वसाधारण को फायदा नहीं पहुँच सका है। इसी कमी को दूर करने के लिये सबसे पहले, कर्मग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता समझी गई। क्योंकि कर्मग्रन्थों के पठन-पाठन आदि का जैसा प्रचार और आदर श्वेताम्बर सम्प्रदाय में देखा जाता है वैसा अन्य ग्रन्थों का नहीं।

अनुवाद का स्वरूप—कर्मगन्थों के क्रम और पढ़ने वाले की योग्यता पर ध्यान दे करके, प्रथमकर्मग्रन्थ तथा दूसरे आदि अगले कर्मग्रन्थों के अनुवाद के स्वरूप में थोड़ा सा-अन्तर रक्खा गया है। प्रथमकर्मग्रन्थ में कर्मविषयक पारिभाषिक शब्द प्रायः सभी आ जाते हैं तथा इसके पठन के सिवाय अगले कर्मग्रन्थों का अध्ययन ही लाभदायक नहीं हो सकता, इसलिये इस के अनुवाद में गाथा के नीचे अन्वयपूर्वक शब्दशः

अर्थ देकर, पीछे भावार्थ दिया गया है। प्रथमकर्मग्रन्थ के पढ़ चुकने के बाद अगले कर्मग्रन्थों के पारिभाषिक शब्द बहुधा मालूम हो जाते हैं, इसलिये उनके अनुवाद में गाथा के नीचे मूल शब्द न लिख कर सीधा अन्वयार्थ दे दिया गया है और अनन्तर भावार्थ। दूसरे, तीसरे आदि कर्मग्रन्थों में गाथा के नीचे संस्कृत छाया भी दी हुई है जिससे थोड़ा भी संस्कृत जानने वाले अनायास ही गाथा के अर्थ को समझ सकें।

उपयोगिता—हमारा विश्वास है कि यह अनुवाद विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, क्योंकि एक तो इसकी भाषा हिन्दी है और दूसरे, इसका विषय महत्त्वपूर्ण है। इस के अतिरिक्त आज तक कर्मग्रन्थों का वर्तमान शैली में अनुवाद, किसी भी भाषा में प्रकट नहीं हुआ। यद्यपि सब कर्मग्रन्थों पर गुजराती भाषा में टबे हैं, जिन में से श्रीजयसोमसूरि-कृत तथा जीवविजयजी-कृत टबे छप गये हैं, श्रीमतिचन्द्र-कृत टबा, अभी नहीं छपा है, और एक टबा जिसमें कर्त्ता के नाम का उल्लेख नहीं है हमें आगरा के श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथ के मन्दिर के भाण्डागार से प्राप्त हुआ है। यह टबा भी लिखित है। इसकी भाषा से जान पड़ता है कि यह दो शताब्दियों के पहले बना होगा। ये सभी टबे पुरानी गुजराती भाषा में हैं। इनमें से पहले दो टबे जो छप चुके हैं उनका पठन-पाठन विशेषतया प्रचलित है। उन के विचार भी गम्भीर हैं। इस अनुवाद के करने में टीका के अतिरिक्त उन

दो टवों से भी मदद मिली है पर उनकी वर्णन-शैली प्राचीन होने के कारण, आज कल के नवीन जिज्ञासु, कर्मग्रन्थों का अनुवाद वर्तमान शैली में चाहते हैं। इस अनुवाद में जहाँ तक हो सका, सरल, संक्षिप्त तथा पुनरुक्ति-रहित शैली का आदर किया गया है। अतः हमें पूर्ण आशा है कि यह अनुवाद सर्वत्र उपयोगी होगा।

पुस्तक को उपादेय बनाने का यत्न—हम जानते हैं कि कर्मतत्त्व के जो जिज्ञासु, अगले कर्मग्रन्थों को पढने नहीं पाते वे भी प्रथम कर्मग्रन्थ को अवश्य पढते हैं, इसलिये इस प्रथम कर्मग्रन्थ को उपादेय बनाने की ओर यथाशक्ति विशेष ध्यान दिया गया है। इस में सब से पहले एक विस्तृत प्रस्तावना दी हुई है जिसमें कर्मवाद और कर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले अनेक आवश्यक अंशों पर विचार प्रकट किये हैं। साथ ही विषयप्रवेश और ग्रन्थपरिचय में भी अनेक आवश्यक बातों का यथाशक्ति विचार किया है; जिन्हें पाठक, स्वयं पढ़ कर जान सकेंगे। अनन्तर ग्रन्थकार की जीवनी भी सप्रमाण लिख दी गई है। अनुवाद के बाद चार परिशिष्ट लगा दिये गये हैं। जिन में से पहले परिशिष्ट में श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय के कर्मविषयक समान तथा असमान सिद्धान्त तथा भिन्न भिन्न व्याख्यावाले समान पारिभाषिक शब्द और समानार्थक भिन्न भिन्न संज्ञायें संग्रह की हैं। इस से दिगम्बर सम्प्रदाय का कर्मविषयक गोम्मटसार और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के

कर्मग्रन्थ के बीच कितना शब्द और अर्थ-भेद हो गया है इसका दिग्दर्शन पाठकों को हो सकेगा।

साधारण श्वेताम्बर और दिगम्बर भाइयों में साम्प्रदायिक हठ, यहाँ तक देखा जाता है कि वे एक दूसरे के प्रतिष्ठित और प्रामाणिक ग्रन्थ को भी मिथ्यात्व का साधन समझ बैठते हैं और इस से वे अनेक जानने योग्य बातों से वञ्चित रह जाते हैं। प्रथम परिशिष्ट के द्वारा इस हठ के कम होने की, और एक दूसरे के ग्रन्थों ध्यान-पूर्वक पढ़ने की रुचि, सर्वसाधारण में पैदा होने की हमें बहुत कुछ आशा है। श्रीमान् विपिनचन्द्रपाल का यह कथन बिलकुल ठीक है कि "भिन्न भिन्न सम्प्रदायवाले एक दूसरे के प्रामाणिक ग्रन्थों के न देखने के कारण आपस में विरोध किया करते हैं।" इसलिये प्रथम परिशिष्ट देने का हमारा यही उद्देश्य है कि श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों एक दूसरे के ग्रन्थों को कम से कम देखने की ओर झुकें—कूप-मण्डूकता का त्याग करें।

दूसरे परिशिष्ट के रूप में कोष दिया है, जिसमें प्रथम कर्मग्रन्थ के सभी प्राकृत शब्द हिन्दी-अर्थ के साथ दाखिल किये हैं। जिन शब्दों की विशेष व्याख्या अनुवाद में आगई है उन शब्दों का सामान्य हिन्दी अर्थ लिख कर के विशेष व्याख्या के पृष्ठ का नम्बर लगा दिया गया है। साथ ही प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया भी दी है जिससे संस्कृतज्ञों को बहुत

सरलता हो सकती है। कोष देने का उद्देश्य यह है कि आज कल प्राकृत के सर्वव्यापी कोष की आवश्यकता समझी जा रही है और इस के लिये छोटे बड़े प्रयत्न भी किये जा रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसे प्रत्येक प्राकृत ग्रन्थ के पीछे दिये हुये कोष के द्वारा महान् कोष बनाने में बहुत कुछ मदद मिल सकेगी। महान् कोष को बनाने वाले, प्रत्येक देखने योग्य ग्रन्थ पर उतनी बारीकी से ध्यान नहीं दे सकते, जितनी कि बारीकी से उस एक एक ग्रन्थ को मूल मात्र या अनुवाद-सहित प्रकाशित करने वाले।

तीसरे परिशिष्ट में मूल गाथायें दी हुई हैं जिससे कि मूल मात्र याद करने वालों को तथा मूल मात्र का पुनरावर्त्तन करने वालों को सुभीता हो। इस के सिवाय ऐतिहासिक दृष्टि से या विषय-दृष्टि से मूल मात्र देखने वालों के लिये भी यह परिशिष्ट उपयोगी होगा।

चौथे परिशिष्ट में दो कोष्टक हैं जिनमें क्रमशः श्वेताम्बरीय दिगम्बरीय उन कर्मविषयक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय कराया गया है जो अब तक प्राप्त हैं या न होने पर भी जिनका परिचय मात्र मिला है। इस परिशिष्ट के द्वारा श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के कर्मसाहित्य का परिमाण ज्ञात होने के उपरान्त इतिहास पर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकेगा।

इस तरह इस प्रथम कर्मग्रन्थ के अनुवाद को विशेष उपादेय बनाने के लिये सामग्री, शक्ति और समय के अनुसार कोशिश की गई है। अगले कर्मग्रन्थों के अनुवादों में भी करीब करीब परिशिष्ट आदि का यही क्रम रक्खा गया है। यदि और भी कुछ विशेष सामग्री मिल सकी तो तीसरे आदि कर्मग्रन्थों के अनुवाद, जो अभी नहीं छपे हैं उनमें विशेषता लाने की चेष्टा की जावेगी।

इस पुस्तक के संकलन में जिनसे हमें थोड़ी या बहुत किसी भी प्रकार की मदद मिली है उनके हम कृतज्ञ हैं। इस पुस्तक के अन्त में जो अन्तिम परिशिष्ट दिया गया है उसके लिये हम, प्रवर्त्तक श्रीमान् कान्तिविजयजी के शिष्य श्रीचतुरविजयजी के पूर्णतया कृतज्ञ हैं; क्योंकि उनके द्वारा सम्पादित प्राचीन कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना के आधार से वह परिशिष्ट दिया गया है। तथा हम, श्रीमान् महाराज जिनविजयजी और सम्पादक, जैनहितैषी के भी हृदय से कृतज्ञ हैं। क्योंकि ई. स. १९१६ जुलाई-अगस्त की जैनहितैषी की संख्या में उक्त मुनिमहाराज का 'जैनकर्मवाद और तद्विपयक साहित्य' शीर्षक लेख प्रकट हुआ है उससे तथा उस पर की सम्पादकीय टिप्पनी से उक्त परिशिष्ट तैयार करने में सर्वथा मदद मिली है।

हम इस पुस्तक को पाठकों के सम्मुख रखते हुये अन्त में उन से इतनी ही प्रार्थना करते हैं कि यदि वे इस में रही हुई त्रुटियों को सहृद्भाव से हमें सूचित करेंगे तो हमारे स्नेहपूर्ण

हृदय को विना ही मोल वे सदा के लिये खरीद सकेंगे । विशिष्ट योग्यता की वृद्धि चाहने वाला कभी अपनी कृति को पूर्ण नहीं देख सकता, वह सदा ही नवनिता के लिये उत्सुक रहता है। इतना ही नहीं, यदि कोई सखा उसे नवीन और वास्तविक पथ दिखावे, तो वह सदा उसका कृतज्ञ वन जाता है—इस नियम की गम्भीरता को पूर्णतया समझने की वुद्धि सदैव वनी रहे यही हमारी परमात्मदेव से साविनय प्रार्थना है ।

निवेदक—

वीरपुत्र.

शुद्धिपत्र (अ)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१	श्रेष्ठाता	श्रेष्ठता
,,	२	सम्वन्ध	सम्बन्ध
,,	४	मनुष्व	मनुष्य
,,	२०	मिला है	मिला है”
१२	१३	यप्रय–	यव्रय–
,,	१६	अभिध्यायशरीरात्	अभिध्याय शरीरात्
१२	१६	स्वात्सिसृक्षु–	स्वात् सिसृक्षु-
२१	१७	गीत।	गीता
२३	१	भा	भी
२५	२१	द्रय०	द्रव्य
२८	११	मनुम्य	मनुष्य
२६	१४	२०	२
२६	१६	पी	पि
३०	६	प्रवृति	प्रवृत्ति
,,	७	मुलक	मूलक
३२	१४	प्रमाण	प्रामाण्य
३३	६	अस्तित्वं,	अस्तित्वं
३३	८	उसी	इसी
३४	११	सात्विक	सात्त्विक
३८	८	पहूंची	पहुँची
३६	७	को	के
३६	८	का	के

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०	.. १८	.. वालक	.. वालक
४०	.. २१	.. कुस्ति	.. कुस्ति
४४	.. १८	.. वरावर	.. वरावर
४५	.. २	.. सक्टी	.. सकती
४७	.. २	.. कै	.. के
४६	.. ४	.. अपनी	.. अपना

शुद्धिपत्र (आ)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	.. ११	.. कीया	.. क्रिया
२	.. २	.. सादि	.. अनादि
३	.. १८	.. त्विहभु-	.. त्विह भु-
८	.. ८	.. अट्ट	.. अट्ठ
८	.. १४	.. छुटे	.. छट्ठे
१२	.. १८	.. जघन्य	.. जघन्य
१२	.. २४	.. अट्ठवीस भेयं	.. अट्ठवीसभेयं
१३	.. ५	.. चौउद्दसहा	.. चउद्दसहा
१७	.. २	.. संसं	.. सम्मं
१८	.. २२	.. संज्ञा	.. संज्ञा द्वीन्द्रिय आदि
१६	.. १७	.. अंगाके	.. अंगोंके

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	१८	ज्ञानकोअंग	ज्ञानको अंग
२१	१३	पाडुड	पाहुड
२२	२२	श्रतु	श्रुत
२३	६	मार्गण	मार्गणा
२३	१३	पदेर्थों	पदार्थों
२४	६	चार वस्तुओं	चार यावत् चौदह पूर्वों
२४	२१	विहाराणं	विहाणं
२५	२	प्रतिपति	प्रतिपाति
२७	१२	जधन्य	जघन्य
२७	२०	पदार्थ	पदार्थ के
२६	१२	चवखुस्स	चक्खुस्स
३०	७	आंखके	आंखकी
३१	२१	तयंचउहा	तयं चउहा
३५	७	सातवेदनीय	असातवेदनीय
३६	३	मज्जंव	मज्जं व
४२	२१	जीवक	जीवके
५३	४	२२	२१
५४	१	आदिस	आदिमें
५५	२	दुभचंपइ	दुभयं पइ
५५	३	सोउ	सो उ
५६	१	तृणका	तृणकी
६२	१८	इसलिय	इसलिये
६२	२०	त्रश	त्रस
६३	१२	अयशः	यशः
६६	१	आर	और
६६	२	का	की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०	६	वीसट्ठ	वीसह
८४	१	सस्थान	संस्थान
८४	२३	हा	हों
८६	३	कस्वाय	कसाय
८६	४	स्वर	खर
८६	२३	उस	उसे
८६	२३	विश्रणी	विश्रेणी
६१	६	वलियां	वलियं
६१	१४	लाद्धि	लद्धि
६२	१६	ऐके	एके
६३	६	जय	जइ
६५	१२	उवधाया	उवघाया
६५	१२	उपधात	उपघात
६६	८	त्रीद्रिय	त्रीन्द्रिय
६८	१७	पयाप्ति	पर्याप्ति
१०१	१५	जसत्रा	जसत्रो
१०३	१५	साध रण	साधारण
१०३	२४	दर्भग	दुर्भग
१०४	१५	वीरिएय	वीरिए य
११२	२	दर्शनवरण	दर्शनावरण
१२०	१६	मन्झिम	मज्झिम
१२४	१	नाचगोत्र	नीचगोत्र
१२५	१०	दुलस्सठिइ	दलस्स ठिइ
१२५	११	ताणरसो	ताण रसो
१२६	१२	आमनाय	आम्नाय
१३५	६	कुरुप	कुरूप

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३६	२२	ह	हँ
१४२	८	अप्रत्याख्या	अप्रत्याख्या
१४३	६	नीलवण	नीलवर्ण
१४६	२	उद्योत	उद्द्योत
,,	२	,,	,,
,,	३	उद्योतते	उद्द्योतते
,,	३	उद्योत	उद्द्योत
१५१	१०	मोहनीकर्म	मोहनीयकर्म
१५४	१५	तत्व	तत्त्व
१५५	८	झुणी	झुणि
,,	,,	ध्वनी	ध्वनि
१६०	५	दुरभिगन्ध	दुरभिगन्ध
१६३	३	निन्हव	निण्हव
,,	,,	निन्हव	निह्नव
१६३	८	व्यस्थापन	व्यवस्थापन
१६६	८	पराधात	परावात
१६७	५	तत्व	तत्त्व
१७२	१३	रुच्चस्पर्श	रूच्चस्पर्श
१७५	१५	विविस	विवस
१७७	८	संम	सम्म
१८२	१०	रुप	रूप
१८५	१८	पडुव्व	पडु व्व
,,	,,	च क्खुस्स	चक्खुस्स
१८७	१४	मियनामे	मिय नामे
१८६	२	अहुह	असुह
,,	२	चहुह	चउह

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६० ..	२ ..	निन्हव ..	निण्हव ..
,, ..	८ ..	दुविहंपि ..	दुविहं पि
,, ..	१७ ..	विवागोयं ..	विवागोऽयं
,, ..	,, ..	सूरिहिं ..	सूरीहिं
१६१ ..	१० ..	वृहट्टिपनि- का मुद्रित जैनग्रन्था- वली में ..	जैनग्रन्थावली में मुद्रित वृहट्टिपनि- का में
१६२ ..	५ ..	वृहद्वृत्ति ..	वृहद्वृत्ति
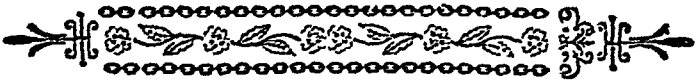
प्रस्तावना।

कर्मवाद का मन्तव्य।

कर्म-वाद का मानना यह है कि सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, ऊँच-नीच आदि जो अनेक अवस्थाएँ दृष्टि-गोचर होती हैं, उनके होने में काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि अन्य अन्य कारणों की तरह कर्म भी एक कारण है। परन्तु अन्य दर्शनों की तरह कर्मवाद-प्रधान जैन-दर्शन ईश्वर को उक्त अवस्थाओं का या सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नहीं मानता। दूसरे दर्शनों में किसी समय सृष्टि का उत्पन्न होना माना गया है; अतएव उनमें सृष्टि की उत्पत्ति के साथ किसी न किसी तरह का ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। न्याय-दर्शन में कहा है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते हैं,—"*तत्कारितत्वादहेतुः*" [गौतमसूत्र अ० ४ आ० १ सू० २१]

वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मान कर, उसके स्वरूप का वर्णन किया है—[देखो, प्रशस्तपाद-भाष्य पृ० ४८]।

योगदर्शन में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम —जड़ जगत का फैलाव—माना है [देखो, समाधिपाद सू० २४ का भाष्य तथा टीका]।

और श्री शङ्कराचार्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में, उपनिषद् के आधार पर जगह जगह ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण सिद्ध किया है; जैसेः—

"चेतनमेकमद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणमिति स्थितम् ।"

[ब्रह्म० २–१–२६ का भाष्य]

"तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम् ।"

[ब्रह्म० अ० २ पा० ३ अ० १ सू० ६ का भाष्य]

"अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते ।"

[ब्रह्म० अ० २ पा० ३ अ० १ सू० ७ का भाष्य]

परन्तु जीवों से फल भोगवाने के लिये जैनदर्शन ईश्वर को कर्म का प्रेरक नहीं मानता। क्योंकि कर्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे जीव कर्म करने में स्वतंत्र है वैसे ही उसके फलको भोगने में भी। कहा है कि *"यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च । संसर्त्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः* ॥ १ ॥ इसी प्रकार जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नहीं मानता, क्योंकि उस के मत से सृष्टि अनादि-अनन्त होने से वह कभी अपूर्व उत्पन्न नहीं हुई तथा वह स्वयं ही परिणमन-शील है इसलिये, ईश्वर के अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखती।

कर्मवाद पर होनेवाले मुख्य आक्षेप
और
उनका समाधान।

ईश्वर को कर्ता या प्रेरक माननेवाले, कर्म-वाद पर नीचे लिखे तीन आक्षेप करते हैं :—

(१) घड़ा, मकान आदि छोटी-मोटी चीजें यदि किसी व्यक्ति के द्वारा ही निर्मित होती हैं तो फिर सम्पूर्ण जगत, जो कार्य-रूप दिखाई देता है, उसका भी उत्पादक, कोई अवश्य होना चाहिये।

(२) सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर कोई बुरे कर्म का फल नहीं चाहता और कर्म, स्वयं जड़ होने से किसी चेतन की प्रेरणा के विना फल देने में असमर्थ हैं। इसलिये कर्म-वादियों को भी मानना चाहिये कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्म-फल भोगवाता है।

[३] ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये कि जो सदा से मुक्त हो, और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी जिसमें कुछ विशेषता हो। इसलिये कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

[क] पहले आक्षेप का समाधानः—यह जगत् किसी समय नया नहीं बना—वह सदाही से है। हाँ, इसमें परिवर्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनके होने में मनुष्य आदि प्राणीवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है; तथा ऐसे परिवर्तन

भी होते हैं कि जिनमें किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। वे जड़ तत्वों के तरह तरह के संयोगों से—उष्णता, वेग, क्रिया आदि शक्तियों से—बनते रहते हैं। उदाहरणार्थ—मिट्टी, पत्थर आदि चीजों के इकट्ठा होने से छोटे-मोटे टीले या पहाड़ का बन जाना; इधर उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उनका नदीरूप में बहना; भाप का पानीरूप में बरसना और फिरसे पानी का भापरूप बन जाना, इत्यादि। इसलिये ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने की कोई जरूरत नहीं है।

(ख) दूसरे आक्षेप का समाधानः—प्राणी जैसा कर्म करते हैं, वैसा फल उन को कर्म के द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ है और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल नहीं चाहते—यह ठीक है, पर यह ध्यानमें रखना चाहिये कि जीव के—चेतन के—संग से कर्म में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिस से वह अपने अच्छे-बुरे विपाकों को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नहीं मानता कि चेतन के सम्बन्ध के सिवाय ही जड़ कर्म भोग देने में समर्थ है। वह इतना ही कहता है कि फल देने के लिये ईश्वर-रूप-चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि सभी जीव चेतन हैं वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि, जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी

बात। केवल चाहना न होने ही से किये कर्म का फल मिलने से रुक नहीं सकता। सामग्री इकट्ठी हो गई फिर, कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप में खड़ा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे; सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? ईश्वर-कर्तृत्व-वादी कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म, अपना अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते हैं। इस पर कर्मवादी कहते हैं कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीवमें ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव, कर्म के फल को आप ही भोगते हैं और कर्म, उनपर अपने फलको आप ही प्रकट करते हैं।

(ग) तीसरे आक्षेप का समाधानः–ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन; फिर उनमें अन्तर ही क्या है? हाँ, अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं। पर, जिस समय जीव अपने आवरणों को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्णरूप में प्रकाशित हो जाती हैं फिर, जीव और ईश्वर में विषमता किस बात की? विषमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उस के हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है? विषमता का राज्य संसार-तक ही परिमित है, आगे नहीं। इसलिये कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं। केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना

चाहिये, उचित नहीं। सभी आत्मा तात्त्विक-दृष्टि से ईश्वर ही हैं; केवल बन्धन के कारण वे छोटे-मोटे जीव-रूपमें देखे जाते हैं—यह सिद्धान्त सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिये पूर्ण बल देता है।

व्यवहार और परमार्थ में कर्मवादकी उपयोगिता।

इस लोक से या परलोक से सम्बन्ध रखने वाले किसी काम में जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्न का सामना करना न पड़े। सब काम में सब को थोड़े बहुत प्रमाण में शारीरिक या मानसिक विघ्न आते ही हैं। ऐसी दशा में देखा जाता है कि बहुत लोग चञ्चल हो जाते हैं। घबड़ा कर, दूसरों को दूषित ठहरा कर उन्हें कोसते हैं। इस तरह विपत्ति के समय एक तरफ़ बाहरी दुश्मन बढ़ जाते हैं दूसरी तरफ़ बुद्धि अस्थिर होने से अपनी भूल दिखाई नहीं देती। अन्त को मनुष्य व्यग्रता के कारण अपने आरम्भ किये हुये सब कामों को छोड़ बैठता है और प्रयत्न तथा शक्ति के साथ न्याय का भी गला घोटता है। इसलिये उस समय उस मनुष्य के लिये एक ऐसे गुरु की आवश्यकता है कि जो उस के बुद्धि-नेत्र को स्थिर कर उसे यह देखने में मदद पहुँचाये कि उपस्थित विघ्न का असली कारण क्या है? जहाँतक बुद्धिमानों ने विचार किया है यही पता चला है कि ऐसा गुरु, कर्म का सिद्धान्त ही है। मनुष्य को यह विश्वास करना चाहिये कि चाहे मैं जान सकूँ या

नहीं, लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझ में ही होना चाहिये। जिस हृदय-भूमिका पर विघ्न-विष-वृक्ष उगता है उसका बीज भी उसी भूमिका में बोया हुआ होना चाहिये। पवन पानी आदि बाहरी निमित्तों के समान उस विघ्न-विष-वृक्ष को अंकुरित होने में कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकती है, पर वह विघ्न का बीज नहीं—ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धि-नेत्र को स्थिर कर देता है जिससे वह अड़चन के असली कारण को अपने में देख, न तो उस के लिये दूसरे को कोसता है और न घबड़ाता है। ऐसे विश्वास से मनुष्य के हृदय में इतना बल प्रकट होता है कि जिस से साधारण संकट के समय विक्षिप्त होने वाला वह बड़ी बड़ी विपत्तियों को कुछ नहीं समझता और अपने व्यावहारिक या पारमार्थिक काम को पूरा ही कर डालता है। मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिये परिपूर्ण हार्दिक शान्ति प्राप्त करना चाहिये, जो एक मात्र कर्म के सिद्धान्त ही से हो सकती है। आँधी और तूफ़ान में जैसे हिमालय का शिखर स्थिर रहता है वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओं के समय शान्त भाव में स्थिर रहना, यही सच्चा मनुष्यत्व है जो कि भूतकाल के अनुभवों से शिक्षा देकर मनुष्य को अपनी भावी भलाई के लिये तैयार करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा मनुष्यत्व, कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास किये विना कभी आ नहीं सकता। इस से यही कहना पड़ता है कि क्या व्यवहार—क्या परमार्थ सब जगह कर्म

का सिद्धान्त एकसा उपयोगी है। कर्म के सिद्धान्त की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में डा० मेक्समूलर का जो विचार है वह जानने योग्य है। वे कहते हैं:—

"यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य-जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा। और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहन-शीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिये नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है तो उसकी भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आपही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थ-शास्त्र का वल-संरक्षण-सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मत का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध में कितनी ही शङ्का क्यों न हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सब से अधिक जगह माना गया है, उस से लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुये हैं और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्यत् जीवन को सुधारने में उत्तेजन मिला है।

कर्मवाद के समुत्थान का काल और उसका साध्य।

कर्म-वाद के विषय में दो प्रश्न उठते हैं--(१) कर्म-वाद का आविर्भाव कब हुआ और (२) वह क्यों?

(१) पहले प्रश्न का उत्तर दो--परम्परा और ऐतिहासिक--दृष्टिओं से दिया जा सकता है। परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है कि जैन-धर्म और कर्म-वाद का आपस में सूर्य और किरण का सा मेल है। किसी समय, किसी देशविशेष में जैन-धर्म का अभाव भले ही देख पडे; लेकिन उस का अभाव सब जगह एक साथ कभी नहीं होता। अतएव सिद्ध है कि कर्म-वाद भी प्रवाह-रूप से जैन-धर्म के साथ साथ अनादि है--अर्थात् वह अभूतपूर्व नहीं है।

परन्तु जैनेतर जिज्ञासु और इतिहास-प्रेमी जैन, उक्त परम्परा को बिना ननु-नच किये मानने के लिए तैयार नहीं। साथ ही वे लोग ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर दिये गये उत्तर को मान लेने में तनिक भी नहीं सकुचाते। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि इस समय जो जैन-धर्म श्वेताम्बर या दिगम्बर शाखारूपसे वर्तमान है, इस समय जितना जैन-तत्त्व-ज्ञान है और जो विशिष्ट परम्परा है वह सब, भगवान् महावीर के विचार का चित्र है। समय के प्रभावसे मूल वस्तु में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, तथापि धारणा-शील और रक्षण-शील जैनसमाज के लिए इतना निःसंकोच कहा

जा सकता है कि उसने तत्त्व-ज्ञान के प्रदेश में भगवान् महावीर के उपदिष्ट तत्त्वों से न तो अधिक गवेषणा की है और न ऐसा सम्भव ही था। परिस्थिति के वदल जाने से चाहे शास्त्रीय भाषा और प्रतिपादन शैली, मूल प्रवर्तक की भाषा और शैली से कुछ वदल गई हो; परन्तु इतना सुनिश्चित है कि मूल तत्त्वों में और तत्त्व-व्यवस्था में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा है। अतएव जैन-शास्त्र के नयवाद, निक्षेपवाद, स्याद्वाद आदि अन्य वादों के समान कर्मवाद का आविर्भाव भी भगवान् महावीर से हुआ है—यह मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती। वर्तमान जैन-आगम, किस समय और किसने रचे, यह प्रश्न ऐतिहासिकों की दृष्टि से भले ही विवादास्पद हो; लेकिन उनको भी इतना तो अवश्य मान्य है कि वर्तमान जैन-आगम के सभी विशिष्ट और मुख्यवाद, भगवान् महावीर के विचार की विभूति है। कर्मवाद, यह जैनों का असाधारण व मुख्यवाद है इसलिये उसके, भगवान् महावीर से आविर्भूत होने के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए २४४४ वर्ष वीते। अतएव वर्तमान कर्मवाद के विषय में यह कहना कि इसे उत्पन्न हुए ढ़ाइ हजार वर्ष हुए, सर्वथा प्रामाणिक है। भगवान् महावीर के शासन के साथ कर्मवाद का ऐसा सम्बन्ध है कि यदि वह उससे अलग कर दिया जाय तो उस शासन में शासनत्व (विशेषत्व) ही नहीं रहता—इस बात को जैन-धर्म का सूक्ष्म अवलोकन करने वाले सभी ऐतिहासिक भली भांति जानते हैं।

इस जगह यह कहा जा सकता है कि 'भगवान् महावीर के समान, उनसे पूर्व, भगवान् पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि हो गये हैं। वे भी जैनधर्म के स्वतंत्र प्रवर्तक थे; और सभी ऐतिहासिक उन्हें जैनधर्म के धुरन्धर नायकरूप से स्वीकार भी करते हैं। फिर कर्मवाद के आविर्भाव के समय को उक्त समय-प्रमाण से बढ़ाने में क्या आपत्ति है?' परन्तु इस पर कहना यह है कि कर्म-वाद के उत्थान के समय के विषय में जो कुछ कहा जाय वह ऐसा हो कि जिस के मानने में किसी को किसी प्रकार की आनाकानी न हो। यह बात भूलनी न चाहिए कि भगवान् नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ आदि जैन-धर्म के मुख्य प्रवर्तक हुए और उन्होंने जैन-शासन को प्रवर्तित भी किया; परन्तु वर्तमान जैन-आगम, जिन पर इस समय जैन-शासन अवलम्बित है वे उनके उपदेश की सम्पत्ति नहीं। इसलिए कर्म-वाद के समुत्थान का ऊपर जो समय दिया गया है उसे अशङ्कनीय समझना चाहिए।

(२) दूसरा प्रश्न, कर्म-वाद का आविर्भाव किस प्रयोजन से हुआ? यह है। इस के उत्तर में निम्न-लिखित तीन प्रयोजन मुख्यतया बतलाये जा सकते हैं:—

(१) वैदिकधर्म की ईश्वर-सम्बन्धिनी मान्यता में जितना अंश भ्रान्त था उसे दूर करना।

(२) बौद्ध-धर्म के एकान्त क्षणिकवाद को अयुक्त बतलाना।

(३) आत्मा को जड़ तत्त्वों से भिन्न—स्वतंत्रतत्त्व—स्थापित करना।

इसके विशेष खुलासे के लिए यह जानना चाहिए कि आर्या-वर्त्त में भगवान् महावीर के समय कौन कौन धर्म थे और उनका मन्तव्य क्या था।

(१) इतिहास बतलाता है कि उस समय भारतवर्ष में जैन के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध दो ही धर्म मुख्य थे; परन्तु दोनों के सिद्धान्त मुख्य मुख्य विषयों में बिलकुल जुदे थे। मूल वेदों में,[1] उपानिषदों में,[2] स्मृतियों में[3] और वेदानुयायी कतिपय दर्शनों में ईश्वर-विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्व साधारण

१—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः... ॥
—[ऋ० मं० १० सू० १९ मं० ३.]

२—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।
—[तैत्ति० ३-१.]

३—आसीदिदं तमोऽभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्व्वतः ॥ १-५ ॥
ततस्स्वयंभूर्भगवानऽव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ १-६ ॥
सोऽभिध्यायशरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १-८ ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः ॥ १-९ ॥
—[मनुस्मृति]

का यह विश्वास हो गया था कि जगत् का उत्पादक ईश्वर ही है; वही अच्छे या बुरे कर्मों का फल जीवों से भोगवाता है; कर्म, जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल भोगा नहीं सकते; चाहे कितनी ही उच्च कोटि का जीव हो, परन्तु वह, अपना विकास करके ईश्वर हो नहीं सकता; अन्तको जीव, जीव ही है, ईश्वर नहीं;और ईश्वर के अनुग्रह के सिवाय संसारसे निस्तार भी नहीं हो सकता इत्यादि।

इस प्रकार के विश्वास में भगवान् महावीर को तीन भूलें जान पड़ीं:—

(१) कृतकृत्य ईश्वर का विना प्रयोजन सृष्टि में हस्तक्षेप करना।

(२) आत्मस्वातंत्र्य का दब जाना।

(३) कर्म की शक्ति का अज्ञान।

इन भूलों को दूर करने के लिए व यथार्थ वस्तुस्थिति जनाने के लिए भगवान् महावीर ने बड़ी शान्ति व गम्भीरता पूर्वक कर्म-वाद का उपदेश दिया।

(२) यद्यपि उस समय बौद्ध-धर्म भी प्रचलित था; परन्तु उसमें जैसे ईश्वर-कर्तृत्व का निषेध न था वैसे स्वीकार भी न था। इस विषयमें बुद्ध एक प्रकार से उदासीन थे। उनका उद्देश्य मुख्यतया हिंसा को रोक, समभाव फैलाने का था।

उनकी तत्त्वप्रतिपादन-सरणी भी तत्कालीन उस उद्देश्य के अनुरूप ही थी। बुद्ध भगवान् स्वयं, [1] कर्म और उसका विपाक [2] मानते थे। लेकिन उनके सिद्धान्तमें क्षणिक वाद को स्थान था। इसलिए भगवान् महावीर के कर्म-वाद के उपदेश का एक यह भी गूढ साध्य था कि "यदि आत्मा को क्षणिक मात्र मान लिया जाय तो कर्म-विपाक की किसी तरह उपपत्ति हो नहीं सकती। स्वकृत कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव तभी घट सकता है, जब कि आत्मा को न तो एकान्त नित्य माना जाय और न एकान्त क्षणिक।"

(३) आज कल की तरह उस समय भी भूतात्मवादी मौजूद थे। वे भौतिक देह नष्ट होने के बाद कृतकर्म-भोगी पुनर्जन्मवान् किसी स्थायी तत्त्व को नहीं मानते थे यह दृष्टि भगवान् महावीर को बहुत संकुचित जान पड़ी। इसी से उस का निराकरण उन्होंने कर्म-वाद द्वारा किया।

कर्मशास्त्र का परिचय।

यद्यपि वैदिक-साहित्य तथा बौद्ध-साहित्य में कर्म-सम्बन्धी विचार है, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ,

---

१—कम्मना वत्तती लोको कम्मना वत्तती पजा।
कम्मनिबंधना सत्ता रथस्साणीव यायतो॥
—[सुत्तनिपात, वासेठसुत्त, ६१.]

२—यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविस्सामि।
[अंगुत्तरनिकाय—]

उस साहित्य में दृष्टि-गोचर नहीं होता। इसके विपरीत जैनदर्शन में कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अतिविस्तृत हैं। अतएव उन विचारों का प्रतिपादक शास्त्र, जिसे 'कर्म-शास्त्र' या 'कर्म-विषयक साहित्य' कहते हैं, उसने जैन-साहित्य के बहुत बड़े भाग को रोक रक्खा है। कर्म-शास्त्र को जैन-साहित्य का हृदय कहना चाहिये। यों तो अन्य विषयक जैन-ग्रन्थों में भी कर्म की थोड़ी बहुत चर्चा पाई जाती है पर उसके स्वतंत्र ग्रन्थ भी अनेक हैं। भगवान महावीर ने कर्म-वाद का उपदेश दिया। उसकी परम्परा अभी तक चली आती है, लेकिन सम्प्रदाय-भेद, संकलना और भाषा की दृष्टि से उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है।

(१) सम्प्रदाय-भेद। भगवान् महावीर का शासन, श्वेताम्बर दिगम्बर दो शाखाओं में विभक्त हुआ। उस समय कर्म-शास्त्र भी विभाजित सा हो गया। सम्प्रदाय भेद की नीव, ऐसे वज्र-लेप भेद पर पड़ी है कि जिससे अपने पितामह भगवान् महावीर के उपदिष्ट कर्म-तत्व पर, मिलकर विचार करने का पुण्य अवसर, दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों को कभी प्राप्त नहीं हुआ। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय में कुछ मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दों में, उनकी व्याख्याओं में और कहीं कहीं तात्पर्य में थोड़ा बहुत भेद हो गया; जिसका कुछ नमूना, पाठक परिशिष्ट में देख सकेंगे।

(२) संकलना। भगवान् महावीर से अब तक में कर्म-शास्त्र की जो उत्तरोत्तर संकलना होती आई है, उसके स्थूल दृष्टि से तीन विभाग बतलाये जा सकते हैं।

[क] पूर्वात्मक कर्म-शास्त्र—यह भाग सबमें बड़ा और सब से पहला है। क्योंकि इसका अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक कि पूर्व-विद्या विच्छिन्न नहीं हुई थी। भगवान् महावीर के बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रम-ह्रास-रूप से पूर्व विद्या वर्तमान रही। चौदह में से आठवाँ पूर्व, जिसका नाम 'कर्म-प्रवाद' है वह तो मुख्यतया कर्म-विषयक ही था, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा पूर्व, जिसका नाम 'अग्रायणीय' है, उसमें भी कर्म-तत्त्व के विचार का एक 'कर्म-प्राभृत' नामक भाग था। इस समय श्वेताम्बर या दिगम्बर के साहित्य में पूर्वात्मक कर्म-शास्त्र का मूल अंश वर्तमान नहीं है।

[ख] पूर्व से उद्धृत यानी आकररूप कर्म-शास्त्र—यह विभाग, पहले विभाग से बहुत ही छोटा है तथापि वर्तमान अभ्यासिओं के लिये वह इतना बड़ा है कि उसे आकर कर्म-शास्त्र कहना पड़ता है। यह भाग, साक्षात् पूर्व से उद्धृत है ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों के ग्रन्थों में पाया जाता है। पूर्व में से उद्धृत किये गये कर्म-शास्त्र का अंश, दोनों सम्प्रदायों में अभी वर्तमान है। उद्धार के समय, सम्प्रदाय-भेद, रूढ़ हो जाने के कारण उद्धृत अंश, दोनों सम्प्रदायों में कुछ भिन्न भिन्न नामसे प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में १ कर्मप्रकृति, २ शतक, ३ पञ्चसंग्रह, और ४ सप्ततिका ये ४ ग्रन्थ और दिगम्बर सम्प्रदाय में

१ महाकर्मप्रकृतिप्राभृत तथा २ कषायप्राभृत ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं ।

[ग] प्राकरणिक कर्म-शास्त्र—यह विभाग, तीसरी संकलना का फल है । इसमें कर्म-विषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण-ग्रन्थ सम्मिलित हैं । इन्हीं प्रकरण-ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन इस समय विशेषतया प्रचलित है । इन प्रकरणों के पढ़ने के बाद मेधावी अभ्यासी आकर ग्रन्थों को पढ़ते हैं । आकर ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिये पहले, प्राकरणिक-विभाग का अवलोकन करना जरूरी है । यह प्राकरणिक कर्म-शास्त्र का विभाग, विक्रम की आठवीं-नववीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक में निर्मित व पल्लवित हुआ है ।

(२) भाषा—भाषा-दृष्टि से कर्म-शास्त्र को तीन हिस्सों में विभाजित कर सकते हैं । [क] प्राकृत भाषा में, [ख] संस्कृत भाषा में और [ग] प्रचलित प्रादेशिक भाषाओं में ।

[क] प्राकृत--पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्म-शास्त्र, इसी भाषा में बने हैं । प्राकरणिक कर्म-शास्त्र का भी बहुत बड़ा भाग प्राकृत भाषा ही में रचा हुआ मिलता है । मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके ऊपर टीका-टिप्पण भी प्राकृत भाषा में बने हुए हैं ।

[ख] संस्कृत—पुराने समय में जो कर्म-शास्त्र बना है वह सब प्राकृत ही में, किन्तु पीछे से संस्कृत भाषा में भी कर्म-शास्त्र की रचना होने लगी । बहुतकर संस्कृत भाषा में कर्म-शास्त्र पर टीका-

टिप्पण आदि ही लिखे गये हैं, पर कुछ मूल प्राकरणिक कर्म-शास्त्र, दोनों संप्रदाय में ऐसे भी हैं जो संस्कृत भाषा में रचे हुए हैं।

[ग] प्रचलित प्रादेशिक भाषाएँ—इनमें मुख्यतया कर्णाटकी, गुजराती और हिन्दी, तीन भाषाओं का समावेश है। इन भाषाओं में मौलिक ग्रन्थ, नाम मात्र के हैं। इनका उपयोग, मुख्यतया मूल तथा टीका के अनुवाद करने ही में किया गया है। विशेषकर इन प्रादेशिक भाषाओं में वही टीका-टिप्पण-अनुवाद-आदि हैं जो प्राकरणिक कर्मशास्त्र-विभाग पर लिखे हुये हैं। कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्बर-साहित्य ने लिया है और गुजराती भाषा, श्वेताम्बरीय साहित्य में उपयुक्त हुई है।

पीछे पृष्ट (१६१) से दो कोष्टक दिये जाते हैं, जिनमें उन कर्म-विषयक ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण है जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय साहित्य में अभी वर्तमान हैं या जिन का पता चला है।

कर्म-शास्त्र में शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि पर विचार।

शरीर, जिन तत्त्वों से बनता है वे तत्त्व, शरीर के सूक्ष्म स्थूल आदि प्रकार, उसकी रचना, उसका वृद्धि-क्रम, ह्रास-क्रम आदि अनेक अंशों को लेकर शरीर का विचार, शरीर-शास्त्र में किया जाता है। इसीसे उस शास्त्र का वास्तविक गौरव है। वह गौरव, कर्म-शास्त्र को भी प्राप्त है। क्योंकि उस में भी प्रसंग-

वश ऐसी अनेक वातों का वर्णन किया गया है जो कि शरीर से सम्वन्ध रखती हैं। शरीर-सम्वन्धिनी ये वातें पुरातन पद्धति से कही हुई हैं सही, परन्तु इससे उनका महत्त्व कम नहीं। क्योंकि सभी वर्णन सदा नये नहीं रहते। आज जो विषय नया दिखाई देता है वही थोड़े दिनों के वाद पुराना हो जायगा। वस्तुतः काल के वीतने से किसी में पुरानापन नहीं आता। पुरानापन आता है उसका विचार न करने से। सामयिक पद्धति से विचार करने पर पुरातन शोधों में भी नवीनता सी आ जाती है। इसलिए अतिपुरातन कर्म-शास्त्र में भी शरीर की वनावट, उस के प्रकार, उसकी मजवूताई और उसके कारणभूत तत्त्वों पर जो कुछ थोड़े वहुत विचार पाये जाते हैं, वह उस शास्त्र की यथार्थ महत्ता का चिह्न है।

इसीप्रकार कर्म-शास्त्र में भाषा के सम्वन्ध में तथा इन्द्रियों के सम्वन्ध में भी मनोरंजक व विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा, किस तत्त्व से वनती है? उसके वनने में कितना समय लगता है? उसकी रचना के लिये अपनी वीर्य-शक्ति का प्रयोग आत्मा किस तरह और किस साधन के द्वारा करता है? भाषाकी सत्यता-असत्यता का आधार क्या है? कौन कौन प्राणी भाषा वोल सकते हैं? किस किस जाति के प्राणी में, किस किस प्रकार की भाषा वोलने की शक्ति है? इत्यादि अनेक प्रश्न, भाषा से सम्वन्ध रखते हैं। उनका महत्त्वपूर्ण व गम्भीर विचार, कर्म-शास्त्र में विशद रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रियाँ कितनी हैं? कैसी हैं? उनके कैसे कैसे भेद तथा कैसी कैसी शक्तियाँ हैं? किस किस प्राणी को कितनी कितनी

इन्द्रियाँ प्राप्त हैं ? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का आपस में क्या सम्बन्ध है ? उनका कैसा कैसा आकार है ? इत्यादि अनेक प्रकार का इन्द्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला विचार, कर्म-शास्त्र में पाया जाता है।

यह ठीक है कि ये सब विचार उसमें संकलना-बद्ध नहीं मिलते, परन्तु ध्यान में रहे कि उस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य अंश और ही है। उसी के वर्णन में शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि का विचार, प्रसंगवश करना पड़ता है। इसलिए जैसी संकलना चाहिये वैसी न भी हो, तथापि इससे कर्म-शास्त्र की कुछ त्रुटी सिद्ध नहीं होती; बल्कि उसको तो अनेक शास्त्रों के विषयों की चर्चा करने का गौरव ही प्राप्त है।

कर्म-शास्त्र का अध्यात्मशास्त्रपन।

अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करना है। अतएव उसको, आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पड़ता है। ऐसा न करने से यह प्रश्न सहज ही में उठता है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सुखी-दुःखी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओं का स्वरूप, ठीक ठीक जाने विना उसके पार का स्वरूप जानने की योग्यता, दृष्टि को कैसे प्राप्त हो सकती है ? इसके

सिवाय यह भी प्रश्न होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थायें ही आत्मा का स्वभाव क्यों नहीं है? इसलिये अध्यात्म-शास्त्र को आवश्यक है कि वह पहले, आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे बढ़े। यही काम कर्म-शास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओं को कर्म-जन्य बतला कर उन से आत्मा के स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्म-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र का ही एक अंश है। यदि अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाय तब भी कर्म-शास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब तक अनुभव में आने वाली वर्तमान अवस्थाओं के साथ आत्मा के सम्बन्ध का सच्चा खुलासा न हो तबतक दृष्टि, आगे कैसे बढ सकती है? जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के सब रूप, मायिक या वैभाविक हैं तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? उसी समय आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन सार्थक होता है। परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध दिखाना यह भी अध्यात्म-शास्त्र का विषय है। इस सम्बन्ध में उपनिषदों में या गीता में जैसे विचार पाये जाते हैं वैसे ही कर्म-शास्त्र में भी। कर्म-शास्त्र कहता है कि आत्मा वही परमात्मा—जीव ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा में मिल जाना, इस का मतलब यह है कि आत्मा का अपने कर्मावृत परमात्मभाव को व्यक्त करके परमात्मरूप हो जाना। जीव परमा-

त्मा का अंश है इसका मतलब कर्म-शास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव में जितनी ज्ञान-कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, परन्तु अव्यक्त(आवृत) चेतना-चन्द्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्णरूपमें प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिये।

धन, शरीर आदि बाह्य विभूतियों में आत्म-बुद्धि करना; अर्थात् जड़ में अहंत्व करना बाह्य दृष्टि है। इस अभेद-भ्रम को बहिरात्मभाव सिद्ध कर के उसे छोड़ने की शिक्षा, कर्म-शास्त्र देता है। जिन के संस्कार केवल बहिरात्मभावमय हो गये हैं उन्हें कर्म-शास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हों, परन्तु इस से उसकी सच्चाई में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता।

शरीर और आत्मा के अभेद-भ्रम को दूर करा कर, उस के भेद-ज्ञान को (विवेक-ख्याति को) कर्म-शास्त्र प्रकटाता है। इसी समय से अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने में वर्तमान परमात्म-भाव देखा जाता है। परमात्म-भाव को देख कर उसे पूर्णतया अनुभव में लाना यह, जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म-भाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढँग से ही कर्म-शास्त्र ने अपने पर ले रक्खा है। क्योंकि वह अभेद-भ्रम से भेदज्ञान की तरफ़ झुका कर, फिर स्वाभाविक अभेदध्यान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खींचता है। बस उसका कर्तव्य-क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योग-

शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी उस में मिल जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कर्म-शास्त्र, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। वही उसका महत्त्व है। बहुत लोगों को प्रकृतियों की गिनती, संख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नहीं होती, परन्तु इस में कर्म-शास्त्र का क्या दोष? गणित, पदार्थविज्ञान आदि गूढ व रस-पूर्ण विषयों पर स्थूलदर्शी लोगों की दृष्टि नहीं जमती और उन्हें रस नहीं आता, इस में उन विषयों का क्या दोष? दोष है समझने वालों की बुद्धि का। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय में रस तभी आता है जब कि वह उस में तल-तक उतर जाय।

विषय-प्रवेश।

कर्म-शास्त्र जानने की चाह रखने वालों को आवश्यक है कि वे 'कर्म' शब्द का अर्थ, भिन्न भिन्न शास्त्र में प्रयोग किये गये उस के पर्याय शब्द, कर्म का स्वरूप, आदि निम्न विषयों से परिचित हो जाँय तथा आत्म-तत्त्व स्वतन्त्र है यह भी जान लेवें।

१—कर्म शब्द के अर्थ।

'कर्म' शब्द लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनों में प्रसिद्ध है। उस के अनेक अर्थ होते हैं। साधारण लोग अपने व्यवहार में काम, धँधे या व्यवसाय के मतलब से 'कर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं। शास्त्र में उसकी एक गति नहीं है। खाना, पीना, चलना, काँपना

आदि किसी भी हल-चल के लिये—चाहे वह जीव की हो या जड़ की—कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कर्मकाण्डी मीमांसक, यज्ञ-याग-आदि क्रिया-कलाप-अर्थ में; स्मार्त विद्वान्, ब्राह्मण आदि ४ वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि ४ आश्रमों के नियत कर्मरूप अर्थ में; पौराणिक लोग, व्रत नियम आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में; वैयाकरण लोग, कर्त्ता जिस को अपनी क्रिया के द्वारा पाना चाहता है उस अर्थ में—अर्थात् जिस पर कर्त्ता के व्यापार का फल गिरता है उस अर्थ में; और नैयायिक लोग उत्क्षेपण आदि पाँच सांकेतिक कर्मों में कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं। परन्तु जैनशास्त्र में कर्म शब्द से दो अर्थ लिये जाते हैं। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय (भावकर्म) कहते हैं और दूसरा कार्मण जाति के पुद्गल-विशेष, जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ चिपके हुये होते हैं और द्रव्यकर्म कहलाते है।

२—कर्म शब्द के कुछ पर्याय।

जैनदर्शन में जिस अर्थ के लिये कर्म शब्द प्रयुक्त होता है उस अर्थ के अथवा उससे कुछ मिलते जुलते अर्थ के लिये जैनेतर दर्शनों में ये शब्द मिलते हैं:—माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्तदर्शन में पाये जाते हैं। इन का मूल अर्थ करीब करीब वही है, जिसे जैन-दर्शन में भावकर्म कहते हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमांसादर्शन में मिलता है।

वासना शब्द बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध है, परन्तु योगदर्शन में भी उसका प्रयोग किया गया है। आशय शब्द विशेषकर योग तथा सांख्यदर्शन में मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार, इन शब्दों का प्रयोग और दर्शनों में भी पाया जाता है, परन्तु विशेषकर न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं जो सब दर्शनों के लिये साधारण से हैं। जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं उनको पुनर्जन्म की सिद्धि—उपपत्ति—के लिये कर्म मानना ही पड़ता है। चाहे उन दर्शनों की भिन्न भिन्न प्रक्रिया के कारण या चेतन के स्वरूप में मतभेद होने के कारण, कर्म का स्वरूप थोड़ा वहुत जुदा जुदा जान पड़े; परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि सभी आत्मवादियों ने माया आदि उपर्युक्त किसी न किसी नाम से कर्म का अंगीकार किया ही है।

३—कर्म का स्वरूप।

मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही 'कर्म' कहलाता है। कर्म का यह लक्षण उपर्युक्त भावकर्म द्रव्यकर्म, दोनों में घटित होता है। क्योंकि भावकर्म, आत्मा का—जीव का—वैभाविक परिणाम है, इस से उसका उपादानरूप कर्त्ता, जीव ही है और द्रव्यकर्म, जो कि कार्मणजाति के सूक्ष्म पुद्गलों का विकार है उसका भी कर्त्ता, निमित्तरूप से जीव ही है। भावकर्म के होने में द्रव्य-

कर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त। इस प्रकार उन दोनों का आपस में बीजाङ्कुर की तरह कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध है।

४—पुण्य-पाप की कसौटी।

साधारण लोक यह कहा करते हैं कि—'दान, पूजन, सेवा आदि क्रियाओं के करने से शुभ कर्म का (पुण्य का) बन्ध होता है और किसी को कष्ट पहुँचाने, इच्छा-विरुद्ध काम करने आदि से अशुभ कर्म का (पाप का) बन्ध होता है।' परन्तु पुण्य-पाप का निर्णय करने की मुख्य कसौटी यह नहीं है। क्योंकि किसी को कष्ट पहुँचाता हुआ और दूसरे की इच्छा-विरुद्ध काम करता हुआ भी मनुष्य, पुण्य उपार्जन कर सकता है। इसी तरह दान-पूजन आदि करनेवाला भी पुण्य-उपार्जन न कर, कभी कभी पाप बाँध लेता है। एक परोपकारी चिकित्सक, जब किसी पर शस्त्र-क्रिया करता है तब उस मरीज को कष्ट अवश्य होता है, हितैषी माता-पिता नासमझ लड़के को जब उसकी इच्छा के विरुद्ध पढ़ाने के लिये यत्न करते हैं तब उस बालक को दुःख सा मालूम पड़ता है; पर इतने ही से न तो वह चिकित्सक अनुचित काम करने वाला माना जाता है और न हितैषी माता-पिता ही दोषी समझे जाते हैं। इस के विपरीत जब कोई, भोले लोगों को ठगने के इरादे से या और किसी तुच्छ आशय से दान,

पूजन आदि क्रियाओं को करता है तब वह पुण्य के बदले पाप बाँधता है। अतएव पुण्यबन्ध या पाप-बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर ऊपर की क्रिया नहीं है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ता का आशय ही है। अच्छे आशय से जो काम किया जाता है वह पुण्य का निमित्त और बुरे अभि-प्राय से जो काम किया जाता है वह पाप का निमित्त होता है। यह पुण्य-पाप की कसौटी सब को एकसी सम्मत है। क्योंकि यह सिद्धान्त सर्व-मान्य है कि—*"यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।"*

५—सच्ची निर्लेपता।

साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप न लगेगा। इससे वे उस काम को तो छोड़ देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेपसे अपने को मुक्त नहीं कर सकते। अतएव विचारना चाहिये कि सच्ची निर्लेपता क्या है ? लेप (बन्ध), मानसिक क्षोभ को अर्थात् कषाय को कहते हैं। यदि कषाय नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने के लिये समर्थ नहीं है। इससे उलटा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। कषाय-रहित वीतराग सब जगह जल में

कमल की तरह निर्लेप रहते हैं पर कषायवान् आत्मा, योग का स्वाँग रच कर भी तिल भर शुद्धि नहीं कर सकता। इसीसे यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़ कर जो काम किया जाता है वह बन्धक नहीं होता। मतलब सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग में है। यही शिक्षा कर्मशास्त्र से मिलती है, और यही बात अन्यत्र भी कही हुई है:—

" मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयाऽऽसंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥ "

—[मैत्र्युपनिषद्]

६—कर्म का अनादित्व।

विचारवान् मनुष्य के दिल में प्रश्न होता है कि कर्म सादि है या अनादि? इस के उत्तर में जैनदर्शन का कहना है कि कर्म, व्यक्ति की अपेक्षा से सादि और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। यह सब का अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी न किसी तरह की हलचल किया ही करता है। हल-चल का होना ही कर्मबन्ध की जड़ है। इससे यह सिद्ध है कि कर्म, व्यक्तिशः आदिवाले ही हैं। किन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला? इसे कोई बतला नहीं सकता। भविष्यत् के समान भूतकाल की गहराई अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय और किसी तरह से होना असम्भव है। इसलिये कर्म के प्रवाह को अनादि कहे बिना दूसरी

गति ही नहीं है। कुछ लोग अनादित्व की अस्पष्ट व्याख्या की उलझन से घबड़ाकर कर्म-प्रवाह को सादि बतलाने लग जाते हैं, पर वे अपनी बुद्धि की अस्थिरता से कल्पित दोष की आशंका करके, उसे दूर करनेके प्रयत्न में एक बड़े दोष का स्वीकार कर लेते हैं। वह यह कि कर्म-प्रवाह यदि आदिमान है तो जीव पहले अत्यन्त ही शुद्ध-बुद्ध होना चाहिये, फिर उसे लिप्त होने का क्या कारण ? और यदि सर्वथा शुद्ध-बुद्ध जीव भी लिप्त हो जाता है तो मुक्त हुये जीव भी कर्म-लिप्त होंगे; ऐसी दशामें मुक्ति को सोया हुआ संसार ही कहना चाहिये। कर्म-प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के फिरसे संसार में न लौटने को सब प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं; जैसेः—

न कर्माऽविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात्॥ ३५ ॥
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६॥

[ब्रह्म-सू० २० १.]-

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥ २२ ॥

[ब्र-सू-अ- ४ पा-४ अ०७ सू- २२]

७—कर्म-बन्ध का कारण।

जैनदर्शन में कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार कारण बतलाये गये हैं। इनका संक्षेप पीछले दो (कषाय और योग) कारणों में किया हुआ भी मिलता है। अधिक संक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि कषाय

ही कर्मबन्ध का कारण है। यों तो कषाय के—विकार के—अनेक प्रकार हैं पर, उन सब का संक्षेप में वर्गीकरण करके आध्यात्मिक विद्वानों ने उस के राग, द्वेष दोही प्रकार किये हैं। कोई भी मानसिक विकार हो, या तो वह राग-(आसक्ति)रूप या द्वेष-(ताप)रूप है। यह भी अनुभव-सिद्ध है कि साधारण प्राणियों की प्रवृति, चाहे वह ऊपर से कैसी ही क्यों न देख पड़े, पर वह या तो राग-मुलक या द्वेष-मुलक होती है। ऐसी प्रवृत्ति ही विविध वासनाओं का कारण होती है। प्राणीं जान सके या नहीं, पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म सृष्टि का कारण, उस के राग-द्वेष ही होते हैं। मकड़ी, अपनी ही प्रवृत्ति से अपने किये हुये जाले में फँसती है। जीव भी कर्म के जाले को अपनी ही वेसमझी से रच लेता है। अज्ञान, मिथ्या ज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते हैं सो भी राग-द्वेष के सम्बन्ध ही से। राग की या द्वेप की मात्रा वढ़ी कि ज्ञान, विपरीतरूप में वदलने लगा। इस से शब्द-भेद होने पर भी कर्म-वन्ध के कारण के सम्वन्ध में अन्य आस्तिक दर्शनों के साथ, जैनदर्शन का कोई मतभेद नहीं। नैयायिक तथा वैशेपिक दर्शन में मिथ्या ज्ञान को, योगदर्शन में प्रकृति-पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि में अविद्या को तथा जैनदर्शन में मिथ्यात्व को कर्म का कारण वतलाया है, परन्तु यह वात ध्यान में रखनी चाहिये कि किसी को भी कर्म का कारण क्यों न कहा जाय, पर यदि उसमें कर्म की बन्धकता (कर्म-लेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह राग-द्वेष

के सम्बन्ध ही से। राग-द्वेष की न्यूनता या अभाव होते ही अज्ञानपन (मिथ्यात्व) कम होता या नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्तिपर्व के "*कर्मणा बध्यते जन्तुः*" इस कथन में भी कर्म शब्द का मतलब राग-द्वेष ही से है।

२९

८—कर्म से छूटने के उपाय।

अब यह विचार करना जरूरी है कि कर्म-पटल से आवृत अपने परमात्मभाव को जो प्रकट करना चाहते हैं उनके लिये किन किन साधनों की अपेक्षा है।

जैनशास्त्र में परम पुरुषार्थ—मोक्ष—पाने के तीन साधन बतलाये हुए हैं:-(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक्चारित्र। कहीं कहीं ज्ञान और क्रिया, दो को ही मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थल में दर्शन को ज्ञानस्वरूप—ज्ञान का विशेष—समझ कर उससे जुदा नहीं गिनते। परन्तु यह प्रश्न होता है कि वैदिकदर्शनों में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारों को मोक्ष का साधन माना है फिर, जैनदर्शन में तीन या दो ही साधन क्यों कहे गये? इसका समाधान इस प्रकार है कि जैनदर्शन में जिस सम्यक् चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है उस में कर्म और योग दोनों मार्गों का समावेश हो जाता है। क्योंकि सम्यक् चारित्र में मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उन के लिये किये जाने वाले उपायों का समावेश होता है। मनोनिग्रह,

इन्द्रिय-जय आदि सात्विक यज्ञ ही कर्ममार्ग है और चित्त-शुद्धि तथा उस के लिये की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योगमार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योगमार्ग का मिश्रण ही सम्यक् चारित्र है। सम्यग् दर्शन ही भक्तिमार्ग है, क्योंकि भक्ति में श्रद्धा का अंश प्रधान है और सम्यग् दर्शन भी श्रद्धा रूप ही है। सम्यग् ज्ञान ही ज्ञान मार्ग है। इस प्रकार जैनदर्शन में बतलाये हुये मोक्ष के तीन साधन अन्य दर्शनों के सब साधनों का समुच्चय है।

६—आत्मा स्वतंत्र तत्त्व है।

कर्म के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसकी ठीक ठीक संगति तभी हो सकती है जब कि आत्मा को जड़ से अलग तत्त्व माना जाय। आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व नीचे लिखे सात प्रमाणों से जाना जा सकता है:—

(क) स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण, (ख) बाधक प्रमाण का अभाव, (ग) निषेध से निषेध-कर्त्ता की सिद्धि, (घ) तर्क, (ङ) शास्त्र व महात्माओं का प्रमाण, (च) आधुनिक विद्वानों की सम्मति और (छ) पुनर्जन्म।

(क) स्वसंवेदनरूप साधक प्रमाण । यद्यपि सभी देह-धारी, अज्ञान के आवरण से न्यूनाधिकरूप में घिरे हुए हैं और इससे वे अपने ही अस्तित्व का संदेह करते हैं, तथापि

जिस समय इनकी बुद्धि थोड़ी सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूँ'। यह स्फुरणा कभी नहीं होती कि 'मैं नहीं हूँ'। इससे उलटा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नहीं हूँ' यह बात नहीं। इसी बात को श्री-शंकराचार्य ने भी कहा है:—

" सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं, प्रत्येति, न नाहमस्मीति "

[ब्रह्म० भाष्य-१-१-१]

उसी निश्चय को ही स्वसंवेदन (आत्मनिश्चय) कहते हैं।

(ख) *बाधक प्रमाण का अभाव*। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो आत्मा के अस्तित्व का बाध (निषेध) करता हो। इस पर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना ही उसका बाध है। परन्तु इसका समाधान सहज है। किसी विषय का बाधक प्रमाण वही माना जाता है जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर उसे ग्रहण कर न सके। उदाहरणार्थ—आँख, मिट्टी के घड़े को देख सकती है पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह मिट्टी के घड़े को न देखे, उस समय उसे उस विषय की बाधक समझना चाहिये।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि ' जड़, चेतन ये दो स्वतंत्र विरोधी तत्त्व मानना उचित नहीं, परन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ में जड़त्व व चेतनत्व दोनों शक्तियाँ मानना उचित है। जिस समय चेतनत्व शक्ति का विकास होने लगता है—उस की व्यक्ति होती है—उस समय जड़त्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन-शक्तिवाले प्राणी जड़ पदार्थ के विकास के ही परिणाम हैं। वे जड़ के अतिरिक्त अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते, किन्तु जड़त्व शक्ति का तिरोभाव होने से जीवधारीरूप में दिखाई देते हैं।' ऐसा ही मन्तव्य हेकल आदि अनेक पश्चिमीय विद्वानों का भी है। परन्तु उस प्रतिकूल तर्क का निवारण अशक्य नहीं है।

यह देखा जाता है कि किसी वस्तु में जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तब उस में दूसरी विरोधिनी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है वह सदा के लिये नहीं, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर भी उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है वह भी सदा के लिये नहीं। प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ पानी के अणुओं को लीजिये। ये गरमी पाते ही भापरूप में परिणत हो जाते हैं, फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानीरूप में बरसते हैं और अधिक शीतत्व प्राप्त होने पर द्रवत्वरूप को छोड़ बर्फरूप में घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

जिस समय उनकी बुद्धि थोड़ी सी भी स्थिर हो जाती है उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूँ'। यह स्फुरणा कभी नहीं होती कि 'मैं नहीं हूँ'। इससे उलटा यह भी निश्चय होता है कि 'मैं नहीं हूँ' यह बात नहीं। इसी बात को श्री-शंकराचार्य ने भी कहा है:—

"सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं, प्रत्येति, न नाहमस्मीति"

[ब्रह्म० भाष्य-१-१-१]

उसी निश्चय को ही स्वसंवेदन (आत्मनिश्चय) कहते हैं।

(ख) *बाधक प्रमाण का अभाव*। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो आत्मा के अस्तित्व का बाध (निषेध) करता हो। इस पर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना ही उसका बाध है। परन्तु इसका समाधान सहज है। किसी विषय का बाधक प्रमाण वही माना जाता है जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर उसे ग्रहण कर न सके। उदाहरणार्थ—आँख, मिट्टी के घड़े को देख सकती है पर जिस समय प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह मिट्टी के घड़े को न देखे, उस समय उसे उस विषय की बाधक समझना चाहिये।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि ' जड़, चेतन ये दो स्वतंत्र विरोधी तत्त्व मानना उचित नहीं, परन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ में जड़त्व व चेतनत्व दोनों शक्तियाँ मानना उचित है। जिस समय चेतनत्व शक्ति का विकास होने लगता है—उस की व्यक्ति होती है—उस समय जड़त्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन-शक्तिवाले प्राणी जड़ पदार्थ के विकास के ही परिणाम हैं। वे जड़ के अतिरिक्त अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते, किन्तु जड़त्व शक्ति का तिरोभाव होने से जीवधारीरूप में दिखाई देते हैं। ' ऐसा ही मन्तव्य हेकल आदि अनेक पश्चिमीय विद्वानों का भी है। परन्तु उस प्रतिकूल तर्क का निवारण अशक्य नहीं है।

यह देखा जाता है कि किसी वस्तु में जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तब उस में दूसरी विरोधिनी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है वह सदा के लिये नहीं, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर भी उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है वह भी सदा के लिये नहीं। प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है। उदाहरणार्थ पानी के अणुओं को लीजिये। वे गरमी पाते ही भापरूप में परिणत हो जाते हैं, फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानीरूप में बरसते हैं और अधिक शीतत्व प्राप्त होने पर द्रवत्वरूप को छोड़ बर्फरूप में घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

उस कर्म का भी नाम स्त्यानगृद्धि है.

वज्र–ऋषभ–नाराच संहनन वाले जीवको, जब इस स्त्यानर्द्धि कर्मका उदय होता है, तब उसे वासुदेवका आधा बल हो जाता है, यह जीव, मरने पर अवश्य नरक जाता है-

तीसरा कर्म वेदनीय है, इसे वेद्य कर्म भी कहते हैं, इस का स्वभाव, तलवारकी शहद लगी हुई धाराको चाटनेके समान है.वेद-नीय कर्मके दो भेद हैं,१ सातवेदनीय और सातवेदनीय. तलवार की धारमें लगे हुये शहदको चाटनेके समान सातवेदनीयहै और खड्ग–धारासे जीभके कटनेके समान असातवेदनीय है।

(१) जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषय-सम्बन्धी सुखका अनुभव होता है, वह सातवेदनीय कर्म।

(२) जिस कर्मके उदय से, आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से अथवा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है, वह असातवेदनीय कर्म.

आत्माको जो अपने स्वरूप के सुखका अनुभव होता है, वह किसी भी कर्म के उदय से नहीं. मधु-लिप्त-खड्ग-धाराका दृष्टान्त देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिक सुखं–अर्थात् पौद्गलिक सुख, दुःख से मिला हुआ ही है।

" चार गतियों में सात-असात का स्वरूप, मोहनीय कर्म का स्वरूप और उसके दो भेद"।

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ॥ १३ ॥

(ओसन्नं) प्रायः (सुरमणुए) देवों और मनुष्यों में (सायं) सात-वेदनीय कर्म का उदय होता है. (तिरियनरएसु)

बिलकुल अपढ़ होते हैं और लड़का पूरा शिक्षित बन जाता है। विशेष क्या ? यहाँ तक देखा जाता है कि किन्हीं किन्हीं माता पिताओं की रुचि, जिस बात पर बिलकुल ही नहीं होती उसमें बालक सिद्ध-हस्त हो जाता है। इस का कारण केवल आसपास की परिस्थिति ही नहीं मानी जा सकती, क्योंकि समान परिस्थिति और बराबर देखभाल होते हुये भी अनेक विद्यार्थियों में विचार व वर्तन की जुदाई देखी जाती है। यदि कहा जाय कि यह परिणाम बालक के अद्भुत ज्ञानतंतुओं का है, तो इस पर यह शंका होती है कि बालक का देह माता-पिता के शुक्र-शोणित से बना होता है, फिर उनमें अविद्यमान ऐसे ज्ञान-तंतु बालक के मस्तिष्क में आये कहाँ से ? कहीं कहीं माता-पिता की सी ज्ञान-शक्ति बालक में देखी जाती है सही, पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला ? किसी किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लड़का गँवार ही रह जाता है।

यह सब को विदित ही है कि एक साथ—युगलरूप से—जन्मे-हुये दो बालक भी समान नहीं होते। माता-पिता की देख भाल बराबर होने पर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कहीं आगे बढ़ जाता है। एक का पिण्ड, रोग से नहीं छूटता और दूसरा बड़े बड़े कुस्तिबाजों से हाथ मिलाता है। एक दीर्घ-

इसी तरह यदि जड़त्व-चेतनत्व दोनों शक्तियों को किसी एक मूल तत्त्वगत मान लें, तो विकासवाद ही न ठहर सकेगा। क्योंकि चेतनत्व शक्ति के विकास के कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते हैं वेही सब, जड़त्व शक्ति का विकास होने पर फिर जड़ हो जायँगे। जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़रूप में दिखाई देते हैं वे कभी चेतन हो जायँगे और चेतनरूप से दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणी कभी जड़ रूप भी हो जायँगे। अतएव एक पदार्थ में जड़त्व चेतनत्व दोनों विरोधिनी शक्तियों को न मान कर जड़ चेतन दो स्वतंत्र तत्त्वों को ही मानना ठीक है।

(ङ) *शास्त्र व महात्माओं का प्रामाण्य।* अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारों ने वड़ी शान्ति व गम्भीरता के साथ आत्मा के विषय में खोज की, उन के शास्त्रगत अनुभव को यदि हम विना ही अनुभव किये चपलता से यों ही हँस दें तो, इसमें क्षुद्रता किस की? आजकल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्हों ने अपना जीवन पवित्रता-पूर्वक आत्मा के विचार में ही विताया। उन के शुद्ध अनुभव को हम यदि अपने भ्रान्त अनुभव के वल पर न मानें तो इस में न्यूनता हमारी ही है। पुरातन शास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा निःस्वार्थ भाव से आत्मा के अस्तित्व को वतला रहें हैं।

बिलकुल अपढ़ होते हैं और लड़का पूरा शिक्षित बन जाता है। विशेष क्या ? यहाँ तक देखा जाता है कि किन्हीं किन्हीं माता पिताओं की रुचि, जिस बात पर बिलकुल ही नहीं होती उसमें बालक सिद्ध-हस्त हो जाता है। इस का कारण केवल आसपास की परिस्थिति ही नहीं मानी जा सकती, क्योंकि समान परि-स्थिति और बराबर देखभाल होते हुये भी अनेक विद्यार्थियों में विचार व वर्तन की जुदाई देखी जाती है। यदि कहा जाय कि यह परिणाम बालक के अद्भुत ज्ञानतंतुओं का है, तो इस पर यह शंका होती है कि बालक का देह माता-पिता के शुक्र-शोणित से बना होता है, फिर उनमें अविद्यमान ऐसे ज्ञान-तंतु बालक के मस्तिष्क में आये कहाँ से ? कहीं कहीं माता-पिता की सी ज्ञान-शक्ति बालक में देखी जाती है सही; पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला ? किसी किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लड़का गँवार ही रह जाता है।

यह सब को विदित ही है कि एक साथ—युगलरूप से—जन्मे हुये दो बालक भी समान नहीं होते। माता-पिता की देख भाल बराबर होने पर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कहीं आगे बढ़ जाता है। एक का पिण्ड, रोग से नहीं छूटता और दूसरा बड़े बड़े कुश्तिबाजों से हाथ मिलाता है। एक दीर्घ-

जीवी वनता है और दूसरा सौ यत्न होते रहने पर भी यमका अतिथि बन जाता है। एक की इच्छा संयत होती है और दूसरे की असंयत।

जो शक्ति, भगवान् महावीर में, बुद्ध में, शंकराचार्य में थी वह उनके माता पिताओं में न थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के कारण उनके माता-पिता नहीं माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी प्रतिभा के मुख्य कारण नहीं, क्योंकि देवचन्द्रसूरि के हेमचन्द्राचार्य के सिवाय और भी शिष्य थे, फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्यों का नाम लोग जानते तक नहीं और हेमचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध है? श्रीमती एनी विसेन्ट में जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है वह उनके माता-पिताओं में न थी और न उनकी पुत्रि में भी। अच्छा, और भी कुछ प्रामाणिक उदाहरणों को सुनिये।

प्रकाश की खोज करने वाले डा० यंग दो वर्ष की उम्र में पुस्तक को बहुत अच्छी तरह बाँच सकते थे। चार वर्ष की उम्र में वे दो दफ़े बाइबल पढ़ चुके थे। सात वर्ष की अवस्था में उन्हों ने गणितशास्त्र पढ़ना आरम्भ किया था और तेरह वर्ष की अवस्था में लेटिन, ग्रीकें, हिब्रु, फ्रेंच, इटालियन आदि भाषाएँ सीख ली थीं। सर विलियम रोवन हेमिल्ट, इन्होंने तीन वर्ष की उम्र में हिब्रु भाषा सीखना आरम्भ किया और सात वर्ष की उम्र में उस भाषा में इतना नैपुण्य प्राप्त किया

कि डब्लीन की ट्रीनिटी कॉलेज के एक फॅलो को स्वीकार करना पड़ा कि कॉलेज में फॅलों के पद के प्रार्थियों में भी उनके बराबर ज्ञान नहीं है और तेरह वर्ष की वय में तो उन्हों ने कम से कम तेरह भाषा पर अधिकार जमा लिया था। ई० स० १८९२ में जनमी हुई एक लड़की ई० स० १९०२ में—दस वर्ष की अवस्था में एक नाटक-मण्डल में संमिलित हुई थी। उसने उस अवस्था में कई नाटक लिखे थे। उसकी माता के कथनानुसार वह पाँच वर्ष की वय में कई छोटी-मोटी कविताएँ बना लेती थी। उसकी लिखी हुई कुछ कविताएँ महारानी विक्टोरीआ के पास भी पहुँची थीं। उस समय इस बालिका का अंग्रेजी ज्ञान भी आश्चर्य-जनक था, वह कहती थी कि मैं अंग्रेजी पढ़ी नहीं हूँ, परन्तु उसे जानती हूँ।

उक्त उदाहरणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस जन्म में देखी जाने वाली सब विलक्षणताएँ न तो वर्तमान जन्म की कृति का ही परिणाम हैं, न माता-पिता के केवल संस्कार का ही और न केवल परिस्थिति का ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के आरम्भ समय से और भी पूर्व मानना चाहिये। वही पूर्व जन्म है। पूर्व जन्म में इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार संचित हुये हों उन्हीं के आधार पर उपर्युक्त शंकाओं का तथा विलक्षणताओं का सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक

पूर्व जन्म सिद्ध हुआ उसी के बल से अनेक पूर्व जन्म की परम्परा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि अपरिमित ज्ञान-शक्ति, एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा, देह से जुदा अनादि सिद्ध होता है। अनादि तत्त्व का कभी नाश नहीं होता इस सिद्धान्त को सभी दार्शनिक मानते हैं। गीता में भी कहा है–"*नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।*" (अ० २ श्लो० १६) इतना ही नहीं, बल्कि वर्तमान शरीर के बाद आत्मा का अस्तित्व माने बिना अनेक प्रश्न हल ही नहीं हो सकते।

बहुत लोग ऐसे देखे जाते हैं कि वे इस जन्म में तो प्रामाणिक जीवन बिताते हैं परन्तु रहते हैं दरिद्री। और ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुनकर चीढ़ते हैं परन्तु होते हैं वे सब तरह से सुखी। ऐसी अनेक व्यक्तियाँ मिल सकती हैं जो हैं तो स्वयं दोषी, और उनके दोषों का—अपराधों का—फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फाँसी पर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और पकड़ा जाता है दूसरा। अब इसपर विचार करना चाहिये कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का बदला इस जन्म में नहीं मिला, उनकी कृति क्या यों ही विफल हो जायगी? यह कहना कि कृति विफल नहीं होती, यदि कर्ता को फल नहीं मिला तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगों पर होता ही है—सो भी ठीक नहीं। क्योंकि

मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब दूसरों के लिये ही नहीं। रात-दिन परोपकार करने में निरत महात्माओं की भी इच्छा, दूसरों की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है। विश्व की व्यवस्था में इच्छा का बहुत ऊँचा स्थान है। ऐसी दशा में वर्तमान देह के साथ इच्छा के मूल का भी नाश मान लेना युक्ति-संगत नहीं। मनुष्य अपने जीवन की आखरी घड़ी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है जिस से कि अपना भला हो। यह नहीं कि ऐसा करने वाले सब भ्रान्त ही होते हैं। बहुत आगे पहुँचे हुये स्थिरचित्त व शान्त-प्रज्ञावान् योगी भी इसी विचार से अपने साधन को सिद्ध करने की चेष्टा में लगे होते हैं कि इस जन्म में नहीं तो दूसरे में ही सही, किसी समय हम परमात्म-भाव को प्रकट कर ही लेंगे। इसके सिवाय सभी के चित्त में यह स्फुरणा हुआ करती है कि मैं बराबर कायम रहूँगा। शरीर, नाश होने के बाद चेतन का अस्तित्व यदि न माना जाय तो व्यक्ति का उद्देश्य कितना संकुचित बन जाता है और कार्य-क्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है? औरों के लिये जो कुछ किया जाय परन्तु वह अपने लिये किये जाने वाले कामों के बराबर हो नहीं सकता। चेतन की उत्तर मर्यादा को वर्त्तमान देह के अन्तिम क्षण-तक मान लेने से व्यक्ति को महत्वाकांक्षा एक तरह से छोड़ देनी पड़ती है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में ही सही, परन्तु मैं अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करूँगा—यह भावना मनुष्यों के हृदयमें

जितना यल प्रकटा सकती है उतना वल अन्य कोई भावना नहीं प्रकटा सकटी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्या है; क्योंकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्व-विदित है। विकासवाद भले ही भौतिक रचनाओं को देख कर जड़ तत्त्वों पर खड़ा किया गया हो, पर उसका विषय चेतन भी वन सकता है। इन सव वातों पर ध्यान देने से यह माने विना संतोष नहीं होता कि चेतन एक स्वतंत्र तत्व है। वह जानते या अनजानते जो अच्छा-बुरा कर्म करता है उसका फल, उसे भोगना ही पड़ता है और इसीलिये उसे पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना पड़ता है। बुद्ध भगवान् ने भी पुनर्जन्म माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निट्शे, कर्मचक्रकृत पुनर्जन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को मानने के लिये प्रबल प्रमाण है।

१०—कर्म-तत्व के विषयमें जैनदर्शन की विशेषता।

जैनदर्शन में प्रत्येक कर्म की वध्यमान, सत् और उदयमान ये तीन अवस्थायें मानी हुई हैं। उन्हें क्रमशः वन्ध, सत्ता और उदय कहते हैं। जैनेतर दर्शनों में भी कर्म की इन अवस्थाओं का वर्णन है। उन में वध्यमान कर्म को 'क्रियमाण' सत्कर्म को 'सञ्चित' और उदयमान कर्म को 'प्रारब्ध' कहा है। किन्तु जैनशास्त्र में ज्ञानावरणीय आदिरूप से कर्म का ८ तथा १४८ भेदों में वर्गीकरण किया है और इस के द्वारा संसारी

आत्मा की अनुभव-सिद्ध भिन्न भिन्न अवस्थाओं का जैसा खुलासा किया गया है वैसा किसी भी जैनेतर दर्शन में नहीं है। पातञ्जलदर्शन में कर्म के जाति, आयु और भोग तीन तरह के विपाक बतलाये हैं, परन्तु जैनदर्शन में कर्म के सम्बन्धमें किये गये विचार के सामने वह वर्णन नाम मात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म, अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म, कितने समय तक विपाक देने में असमर्थ है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसकेलिये कैसे आत्म-परिणाम आवश्यक हैं? एक कर्म, अन्य कर्मरूप कब बन सकता है? उसकी बन्धकालीन तीव्र-मन्द शक्तियाँ किस प्रकार बदली जा सकती हैं? पीछे से विपाक देनेवाला कर्म, पहले ही कब और किस तरह भोगा जा सकता है? कितना भी बलवान् कर्म क्यों न हो, पर उस का विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामों से कैसे रोक दिया जाता है? कभी कभी आत्मा के शतशः प्रयत्न करने पर भी कर्म, अपना विपाक बिना भोगवाये नहीं छूटता? आत्मा, किस तरह कर्म का कर्ता और किस तरह भोक्ता है? इतना होने पर भी वस्तुतः आत्मा में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नहीं है? संक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति

से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते हैं ? आत्मा वीर्य-शक्ति के आविर्भाव के द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस तरह उठा फेंक देता है ? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस किस प्रकार मलिन सा दीखता है ? और बाह्य हज़ारों आवरणों के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस तरह नहीं होता ? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्व-बद्ध तीव्र कर्मों को भी किस तरह हटा देता है ? वह अपने में वर्तमान परमात्मभाव को देखने के लिये जिस समय उत्सुक होता है उस समय उस के, और अन्तरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है ? अन्त में वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामों से बलवान् कर्मों को कमजोर कर के अपने प्रगति-मार्ग को निष्कण्टक करता है ? आत्म-मन्दिर में वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणाम, जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है ? जीव अपनी शुद्ध-परिणाम-तरंगमाला के वैद्युतिक यन्त्र से कर्म के पहाड़ों को किस कदर चुर चुर कर डालता है ? कभी कभी गुलांट खाकर कर्म ही, जो कुछ देर के लिये दबे होते हैं, वे ही प्रगति-शील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते हैं ? कौन कौन कर्म, बन्ध की व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी हैं ? किस कर्म का बन्ध किस अवस्थामें अवश्यम्भावी और किस अवस्थामें अनियत है ? किस कर्म का विपाक किस

हालत तक नियत और किस हालत में अनियत है ? आत्म-सम्बद्ध अतीन्द्रिय कर्म-रज किस प्रकार की आकर्षण-शक्ति से स्थूल पुद्गलों को खींचा करती है और उन के द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्मशरीर आदि का निर्माण किया करती है ? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न, जो कर्म से सम्बन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक, विस्तृत व विशद खुलासा जैनकर्मसाहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नहीं किया जा सकता। यही कर्मतत्त्वके विषय में जैनदर्शनकी विशेषता है।

ग्रन्थ–परिचय।

संसार में जितने प्रतिष्ठित सम्प्रदाय (धर्मसंस्थाएँ) हैं उन सब का साहित्य दो विभागों में विभाजित है:— (१) तत्त्वज्ञान और (२) आचार व क्रिया।

ये दोनों विभाग एक दूसरे से बिलकुल ही अलग नहीं हैं। उनका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा शरीर में नेत्र और हाथ-पैर आदि अन्य अवयवों का। जैनसम्प्रदाय का साहित्य भी तत्त्वज्ञान और आचार इन दो विभागों में बँटा हुआ है। यह ग्रन्थ पहले विभाग से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् इसमें विधि-निषेधात्मक क्रिया का वर्णन नहीं है, किन्तु इसमें वर्णन है तत्त्व का। यों तो जैन-दर्शन में अनेक तत्त्वों पर विविध दृष्टि से विचार किया है पर, इस ग्रन्थ में उन सबका वर्णन नहीं है।

इसमें प्रधानतया कर्मतत्त्वका वर्णन है। आत्मवादी सभी दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म को मानते ही हैं, पर जैनदर्शन इस सम्बन्ध में अपनी असाधारण विशेषता रखता है अथवा यों कहिये कि कर्म-तत्त्व के विचार-प्रदेश में जैनदर्शन अपनी सानी नहीं रखता, इस लिये इस ग्रन्थ को जैनदर्शन की विशेषता का या जैनदर्शन के विचारणीय तत्त्व का ग्रन्थ कहना उचित है।

विशेष परिचय।

इस ग्रन्थ का अधिक परिचय करने के लिए इसके नाम, विषय, वर्णन-क्रम, रचना का मूलाधार, परिमाण, भाषा, कर्त्ता आदि अनेक बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है।

नाम—इस ग्रन्थ के 'कर्मविपाक' और 'प्रथमकर्मग्रन्थ' इन दो नामों में से पहला नाम तो विषयानुरूप है तथा उसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने आदि में "*कम्मविवागं समासओ वुच्छं*" तथा अन्त में "*इअ कम्मविवागोयं*" इस कथनसे स्पष्ट ही कर दिया है। परन्तु दूसरे नाम का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। वह नाम केवल इसलिए प्रचलित हो गया है कि कर्मस्तव आदि अन्य कर्मविषयक ग्रन्थों से यह पहला है; इसके बिना पढ़े कर्मस्तव आदि अगले प्रकरणों में प्रवेश ही नहीं हो सकता। पिछला नाम इतना प्रसिद्ध है कि पढ़ने पढ़ाने वाले तथा अन्य लोग प्रायः उसी नाम से व्यवहार करते

हैं। पहलाकर्मग्रन्थ, इस प्रचलित नाम से मूल नाम यहाँ तक अप्रसिद्ध सा हो गया है कि कर्मविपाक कहने से बहुत लोग कहने वाले का आशय ही नहीं समझते। यह बात इस प्रकरण के विषय में ही नहीं, बल्कि कर्मस्तव आदि अग्रिम प्रकरणों के विषय में भी बराबर लागू पड़ती है। अर्थात् कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीतिक, शतक और सप्ततिका कहने से क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छट्ठे प्रकरण का मतलब बहुत कम लोग समझेंगे। परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवां और छठा कर्मग्रन्थ कहनेसे सब लोग कहनेवाले का भाव समझ लेंगे।

विषय—इस ग्रन्थ का विषय कर्मतत्त्व है पर, इसमें कर्म से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों पर विचार न करके प्रकृति-अंश पर ही प्रधानतया विचार किया है, अर्थात् कर्म की सब प्रकृतियों का विपाक ही इसमें मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी अभिप्राय से इसका नाम भी 'कर्मविपाक' रक्खा गया है।

वर्णन-क्रम—इस ग्रन्थ में सबसे पहले यह दिखाया है कि कर्मबन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु सहेतुक है। इसके बाद कर्म का स्वरूप परिपूर्ण जनाने के लिये उसे चार अंशों में विभाजित किया है—(१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) रस और (४) प्रदेश। इसके बाद आठ प्रकृतियों के नाम और उनके उत्तर भेदों की संख्या को कहा है। अनन्तर ज्ञानावरणीयकर्म

के स्वरूप को दृष्टान्त, कार्य और कारणद्वारा दिखलाने के लिए शुरू में ग्रन्थकार ने ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पाँच भेदों को और उनके अवान्तर भेदों को संक्षेपमें, परन्तु तत्त्व-रूप से दिखाया है। ज्ञान का निरूपण करके उसके आवरण-भूत कर्म का दृष्टान्तद्वारा उद्घाटन (खुलासा) किया है। अनन्तर दर्शनावरण कर्म को दृष्टान्त-द्वारा समझाया है। पीछे उसके भेदों को दिखलाते हुये दर्शन शब्द का अर्थ बतलाया है। दर्शनावरणीय कर्म के भेदों में पाँच प्रकार की निद्राओं का सर्वानुभव-सिद्ध स्वरूप, संक्षेपमें, पर बड़ी मनोरंजकता से वर्णन किया है। इसके बाद क्रम से सुख-दुःख-जनक वेदनीयकर्म, सद्विश्वास और सच्चारित्र के प्रतिबन्धक मोहनीयकर्म, अक्षय जीवन के विरोधी आयुकर्म, गति, जाति आदि अनेक अवस्थाओं के जनक नामकर्म, उच्च-नीच-गोत्र-जनक गोत्रकर्म और लाभ आदि में रुकावट करनेवाले अन्तराय कर्म का तथा उन प्रत्येक कर्म के भेदों का थोड़े में, किन्तु अनुभवसिद्ध वर्णन किया है। अन्तमें प्रत्येक कर्म के कारण को दिखाकर ग्रन्थ समाप्त किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रधान विषय कर्म का विपाक है, तथापि प्रसंगवश इसमें जो कुछ कहा गया है उस सबको संक्षेप में पाँच विभागों में बाँट सकते हैं:—

(१) प्रत्येक कर्म के प्रकृति आदि चार अंशों का कथन।

(२) कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ।

(३) पाँच प्रकारके ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का वर्णन

(४) सब प्रकृतियों का दृष्टान्त पूर्वक कार्य-कथन।

(५) सब प्रकृतियों के कारण का कथन।

आधार—यों तो यह ग्रन्थ कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह आदि प्राचीनतर ग्रन्थों के आधार पर रचा गया है, परन्तु इसका साक्षात् आधार प्राचीन कर्मविपाक है जो श्री गर्गऋषि का बनाया हुआ है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६६ गाथा-प्रमाण होने से पहले पहल कर्म-शास्त्र में प्रवेश करने वालों के लिये बहुत विस्तृत हो जाता है, इस लिये उसका संक्षेप केवल ६१ गाथा-ओं में कर दिया गया है। इतना संक्षेप होने पर भी इसमें प्राचीन कर्मविपाक की खास व तात्त्विक बात कोई भी नहीं छूटी है इतना ही नहीं, बल्कि संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने यहाँ तक ध्यान रक्खा है कि कुछ अतिउपयोगी नवीन विषय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाक में नहीं है उन्हें भी इस ग्रन्थ में दाखिल कर दिया है। उदाहरणार्थ श्रुतज्ञान के पर्याय आदि २० भेद तथा आठ कर्म-प्रकृतियों के बन्ध के हेतु, प्राचीन कर्म-विपाक में नहीं हैं, पर उनका वर्णन इसमें है। संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने इस तत्त्व की ओर भी ध्यान रक्खा है कि जिस एक बात का वर्णन करने से अन्य बातें भी समानता के कारण सुगमता से समझी जा सकें वहाँ उस बात को ही बतलाना, अन्य को नहीं। इसी अभिप्राय से, प्राचीन कर्मविपाक में जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर प्रकृति का विपाक दिखाया गया है वैसे

इस ग्रन्थ में नहीं दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्य में कुछ भी कमी नहीं की गई है। इसी से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्व-साधारण हो गया है। इसके पढ़ने वाले प्राचीन कर्मविपाक को विना टीका-टिप्पण के अनायास ही समझ सकते हैं। यह ग्रन्थ संक्षेपरूप होने से सब को मुख-पाठ करने में व याद रखने में बड़ी आसानी होती है। इसी से प्राचीन कर्मविपाक के छप जाने पर भी इसकी चाह और माँग में कुछ भी कमी नहीं हुई है। इस कर्मविपाक की अपेक्षा प्राचीन कर्मविपाक बड़ा है सही, पर वह भी उससे पुरातन ग्रन्थ का संक्षेप ही है, यह बात उसकी आदि में वर्तमान "*वोच्छं कम्मविवागं गुरुवइट्ठं समासेण*" इस वाक्य से स्पष्ट है।

भाषा—यह कर्मग्रन्थ तथा इसके आगे के अन्य सभी कर्मग्रन्थ मूल मूल प्राकृत भाषा में है। इनकी टीका संस्कृत में है। मूल गाथाएँ ऐसी सुगम भाषा में रची हुई हैं कि पढ़ने वालों को थोड़ा बहुत संस्कृत का बोध हो और उन्हें कुछ प्राकृत के नियम समझा दिये जायँ तो वे मूल गाथाओं के ऊपर से ही विषय का परिज्ञान कर सकते हैं। संस्कृत टीका भी बड़ी विशद भाषा में खुलासे के साथ लिखी गई है जिससे जिज्ञासुओं को पढ़ने समझने में बहुत सुगमता होती है।

ग्रन्थकार की जीवनी ।

(१) समय—प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि का समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी का अन्त और चौदहवीं शताब्दी का आरम्भ है। उनका स्वर्गवास वि० सं० १३२७ में हुआ ऐसा उल्लेख गुर्वावली में* स्पष्ट है परन्तु उनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के समय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता; तथापि यह जान पड़ता है कि १२८५ में श्रीजगच्चंद्रसूरि ने तपा-गच्छ की, स्थापना की, तब वे दीक्षित होंगे। क्योंकि गच्छ-स्थापना के बाद श्रीजगच्चन्द्रसूरि के द्वारा ही श्रीदेवेन्द्रसूरि और श्रीविजयचन्द्रसूरि को सूरिपद दिये जाने का वर्णन गुर्वा-वली में** है। यह तो मानना ही पड़ता है कि सूरिपद ग्रहण करने के समय, श्रीदेवेन्द्रसूरि वय, विद्या और संयम से स्थविर होंगे। अन्यथा इतने गुरुतर पद का और खास करके नवीन प्रतिष्ठित किये गये तपागच्छ के नायकत्व का भार वे कैसे सम्हाल सकते ?

उनका सूरिपद वि० सं० १२८५ के बाद हुआ। सूरिपद का समय, अनुमान वि० सं० १३०० मान लिया जाय, तब भी यह कहा जा सकता है कि तपागच्छ की स्थापना के समय वे नव-दीक्षित होंगे। उनकी कुल उम्र ५० या ५५ वर्ष की मान

---

* देखो श्लोक १७४   ** देखो श्लोक १०७

ली जाय तो यह सिद्ध है कि वि० सं० १२७५ के लग भग उनका जन्म हुआ होगा। वि० सं० १३०२ में उन्होंने उज्जयिनी में श्रेष्ठिवर जिनचन्द्र के पुत्र वीरधवल को दीक्षा दी, जो आगे विद्यानन्दसूरि के नाम से विख्यात हुये। उस समय देवेन्द्रसूरि की उम्र २५—२७ वर्ष की मानली जाय तब भी उक्त अनुमान की—१२७५ के लग भग जन्म होने की—पुष्टि होती है। अस्तु, जन्म का, दीक्षा का तथा सूरि-पद का समय निश्चित न होने पर भी इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि वे विक्रम की १३ वीं शताब्दी के अन्त में तथा चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में अपने अस्तित्व से भारतवर्ष की, और खासकर गुजरात तथा मालवा की शोभा बढ़ा रहे थे।

(२) जन्मभूमि, जाति आदि—श्रीदेवेन्द्रसूरि का जन्म किस देश में, किस जाति और किस परिवार में हुआ इसका कोई प्रमाण अब तक नहीं मिला। गुर्वावली में * उनके जीवन का वृत्तान्त है, पर वह बहुत संक्षिप्त। उसमें सूरिपद ग्रहण करने के बाद की बातों का उल्लेख है अन्य बातों का नहीं। इस लिये उसके आधार पर उनके जीवन के सम्बन्ध में जहाँ कहीं उल्लेख हुआ है, वह अधूरा ही है। तथापि गुजरात और मालवा में उनका अधिक विहार, इस अनुमान की सूचना कर सकता है कि वे गुजरात या मालवा में से किसी देश में जनमें

---

* देखो श्लोक १०७ से आगे.

होंगे। उनकी जाति और माता-पिता के सम्बन्ध में तो साधना-भाव से किसी प्रकार के अनुमान को अवकाश ही नहीं है।

(३) विद्वत्ता और चारित्र-तत्परता—श्रीदेवेन्द्रसूरि जैनशास्त्र के पूरे विद्वान् थे इस में तो कोई सन्देह ही नहीं, क्योंकि इस बात की गवाही उनके ग्रन्थ ही दे रहे हैं। अब तक उनका बनाया हुआ ऐसा कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आया जिस में कि उन्हों ने स्वतंत्र भाव से षड्दर्शन पर अपने विचार प्रकट किये हों; परन्तु गुर्वावली के वर्णन से पता चलता है कि वे षड्दर्शन के मार्मिक विद्वान् थे और इसी से मन्त्रीश्वर वस्तुपाल तथा अन्य अन्य विद्वान् उनके व्याख्यान में आया करते थे। यह कोई नियम नहीं है कि जो जिस विषय का पण्डित हो वह उस पर ग्रन्थ लिखे ही, कई कारणों से ऐसा नहीं भी हो सकता।

परन्तु श्रीदेवेन्द्रसूरि का जैनागम-विषयक ज्ञान हृदय-स्पर्शी था यह बात असन्दिग्ध है। उन्हों ने पाँच कर्मग्रन्थ—जो नवीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध है और जिनमें से यह पहला है—सटीक रचे हैं। टीका इतनी विशद और सप्रमाण है कि उसे देखने के बाद प्राचीन कर्मग्रन्थ या उनकी टीकायें देखने की जिज्ञासा एक तरह से शान्त हो जाती है। उनके संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में रचे हुये अनेक ग्रन्थ इस बात की स्पष्ट सूचना करते हैं कि वे संस्कृत-प्राकृत भाषा के प्रखर पण्डित थे।

श्रीदेवेन्द्रसूरि केवल विद्वान् ही न थे, किन्तु वे चारित्र-धर्म में बड़े दृढ थे। इसके प्रमाण में इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय क्रिया-शिथिलता को देख कर श्रीजगच्चन्द्रसूरि ने बड़े पुरुषार्थ और निःसीम त्याग से, जो क्रियोद्धार किया था उसका निर्वाह श्रीदेवेन्द्रसूरि ने ही किया। यद्यपि श्रीजगच्च-न्द्रसूरि ने श्रीदेवेन्द्रसूरि तथा श्रीविजयचन्द्रसूरि दोनों को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया था, तथापि गुरु के आरम्भ किये हुये क्रियोद्धार के दुर्धर कार्य को श्रीदेवेन्द्रसूरि ही सम्हाल सके। तत्कालीन शिथिलाचार्यों का प्रभाव उन पर कुछ भी नहीं पड़ा। इस से उलटा श्रीविजयचन्द्रसूरि, विद्वान् होने पर भी प्रमाद के चँगुल में फँस गये और शिथिला-चारी हुये[1]। अपने सहचारी को शिथिल देख, समझाने पर भी उन के न समझने से अन्त में श्रीदेवेन्द्रसूरि ने अपनी क्रिया-रुचि के कारण उन से अलग होना पसंद किया। इस से यह बात साफ प्रमाणित होती है कि वे बड़े दृढ़ मन के और गुरु-भक्त थे। उनका हृदय ऐसा संस्कारी था कि उसमें गुण का प्रतिबिम्ब तो शीघ्र पड़ जाता था पर दोष का नहीं। क्योंकि दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में जो श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के अनेक असाधारण विद्वान् हुये, उनकी विद्वत्ता,

---

१ [illegible]

ग्रन्थ-निर्माण-पटुता और चारित्र-प्रियता आदि गुणों का प्रभाव तो श्रीदेवेन्द्रसूरि के हृदय पर पड़ा, * परन्तु उस समय जो अनेक शिथिलाचारी थे, उनका असर इन पर कुछ भी नहीं पड़ा।

श्रीदेवेन्द्रसूरि के शुद्ध-क्रिया-पक्षपाती होने से, अनेक मुमुक्षु, जो कल्याणार्थी व संविग्न-पाक्षिक थे वे आ कर उन से मिल गये थे। इस प्रकार उन्हों ने ज्ञान के समान, चारित्र को भी स्थिर रखने व उन्नत करने में अपनी शक्ति का उपयोग किया था।

(४) गुरु। श्रीदेवेन्द्रसूरि के गुरु थे श्रीजगच्चन्द्रसूरि। जिन्हों ने श्रीदेवभद्र उपाध्याय की मदद से क्रियोद्धार का कार्य आरम्भ किया था। इस कार्य में उन्हों ने अपनी असाधारण त्याग-वृत्ति दिखा कर औरों के लिए आदर्श उपस्थित किया था। उन्हों ने आजन्म आयंबिलव्रत का नियम ले कर घी, दूध आदि के लिए जैन-शास्त्र में व्यवहार किये गये

---

* उदाहरणार्थ—श्रीगर्गर्षि, जो दसवीं शताब्दी मे हुये, उनके कर्मविपाक का संक्षेप इन्हों ने किया। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, जो ग्यारहवीं शताब्दी में हुये, उनके रचित गोम्मटसार में से श्रुतज्ञान के पद-श्रुतादि बीस भेद पहले कर्मग्रन्थ में दाखिल किये जो श्वेताम्बरीय अन्य ग्रन्थों में अब तक देखने में नहीं आये। श्रीमलयगिरिसूरि, जो बारहवीं शताब्दी मे हुये, उनके ग्रन्थ के नो वाक्य के वाक्य इनके बनाये टीका आदि मे दृष्टि-गोचर होते हैं।

विकृति-शब्द को यथार्थ सिद्ध किया। इसी कठिन तपस्या के कारण वड़गच्छ का 'तपागच्छ' नाम हुआ और वे तपा-गच्छ के आदि सूत्रधार कहलाये। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल ने गच्छ-परिवर्तन के समय श्रीजगच्चन्द्रसूरीश्वर की वहुत अर्चा-पूजा की। श्रीजगच्चन्द्रसूरि तपस्वी ही न थे किन्तु वे पूरे प्रति-भाशाली भी थे। क्योंकि गुर्वावली में यह वर्णन है कि उन्हों ने चित्तौड़ की राजधानी अघाट (अहड़) नगर में बत्तीस दिगम्बरवादियों के साथ वाद किया था और उस में वे हीरे के समान अभेद्य रहे थे। इस कारण चित्तौड़-नरेश की ओर से उनको 'हीरला' की पदवी * मिली थी। उनकी कठिन तपस्या, शुद्ध बुद्धि और निरवद्य चारित्र के लिए यही प्रमाण वस है कि उनके स्थापित किये हुये तपागच्छ के पाट पर आज तक ‡ ऐसे ऐसे विद्वान्, क्रिया-तत्पर और शासन-प्रभावक आचार्य वरावर होते आये हैं कि जिन के सामने वादशाहों ने, हिन्दू नरपतिओं ने और वड़े वड़े विद्वानों ने सिर झुकाया है।

(५) परिवार—श्रीदेवेन्द्रसूरि का परिवार कितना बड़ा था इसका स्पष्ट खुलासा तो कहीं देखने में नहीं आया, पर

---

* यह सव जानने के लिये देखो गुर्वावली पद्य ८८ से आगे।

‡ यथा श्रीहीरविजयसूरि, श्रीमद् न्यायविशारद महामहोपाध्याय यशोविजयगणि, श्रीमद् न्यायाम्भोधि विजयानन्दसूरि, आदि।

इतना लिखा मिलता है कि अनेक संविग्न मुनि, उनके आश्रित थे * गुर्वावली में उनके दो शिष्य —श्रीविद्यानंद और श्रीधर्मकीर्ति—का उल्लेख है। ये दोनों भाई थे। 'विद्यानन्द' नाम, सूरि-पद के पीछे का है। इन्हो ने 'विद्यानंद' नाम का व्याकरण बनाया है। धर्मकीर्ति उपाध्याय, जो सूरि-पद लेने के बाद 'धर्मघोष' नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्हों ने भी कुछ ग्रंथ रचे हैं। ये दोनों शिष्य, अन्य शास्त्रों के अतिरिक्त जैनशास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। इस का प्रमाण, उन के गुरु श्रीदेवेन्द्रसूरि की कर्मग्रन्थ की वृत्ति के अन्तिम पद्य से मिलता है। उन्हों ने लिखा है कि "मेरी बनाई हुई इस टीका को श्रीविद्यानंद और श्रीधर्मकीर्ति, दोनों विद्वानोंने शोधा है।" इन दोनों का विस्तृत वृत्तान्त जैनतत्त्वादर्श पृ० ५७६ में है।

(६) ग्रन्थ—श्रीदेवेन्द्रसूरि के कुछ ग्रन्थ जिनका हाल मालूम हुआ है उनके नाम नीचे लिखे जाते हैं:—

(१) श्राद्धदिनकृत्य सूत्रवृत्ति।

(२) सटीक पाँच नवीन कर्मग्रन्थ।

(३) सिद्धपंचाशिका सूत्रवृत्ति।

(४) धर्मरत्नवृत्ति।

*—देखो, पद्य १५३ से आगे।

(५) सुदर्शनचरित्र ।

(६) चैत्यवंदनादि भाष्यत्रय ।

(७) वंदारुवृत्ति ।

(८) सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन ।

(९) सिद्धदंडिका ।

(१०) सारवृत्तिदशा ।

इनमें से प्रायः बहुत ग्रन्थ जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर, आत्मानंद सभा भावनगर, देवचंदलालभाई पुस्तकोद्धारफंड सूरत की ओर से छप गये हैं ।

अनुक्रम।

विषय.	गाथा.	पृष्ठ

वन्दे वीरम्।

श्री देवेन्द्रसूरिविरचितकर्मविपाक नामक।

प्रथम कर्मग्रन्थ

" मङ्गल और कर्म का स्वरूप "

सिरि वीर जिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भएणए कम्मं ॥१॥

मैं (सिरिवीरजिणं) श्री वीर जिनेन्द्र को (वंदिय) नमस्कार करके (समासओ) संक्षेप से (कम्मविवागं) कर्मविपाक नामक ग्रन्थ को (वुच्छं) कहूंगा. (जेणं) जिस कारण, (जिएण) जीव के द्वारा (हेउहिं) हेतुओं से मिथ्यात्व, कषाय आदि से (कीरइ) कीया जाता है-अर्थात् कर्मयोग्य पुद्गल-द्रव्य अपने प्रदेशों के साथ मिला लिया जाता है (तो) इसलिये वह आत्म-सम्बद्ध पुद्गल-द्रव्य, (कम्मं) कर्म (भएणए) कहलाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—राग-द्वेष के जीतने वाले श्रीमहावीर को नमस्कार कर के कर्म के अनुभव का जिस में वर्णन है, ऐसे कर्म विपाक नामक ग्रन्थ को संक्षेप से कहूंगा. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग- इन हेतुओं से जीव, कर्म-योग्य पुद्गल-द्रव्य को अपने आत्म-प्रदेशों के साथ बांध लेता है इसलिये आत्म-सम्बद्ध पुद्गल-द्रव्य को कर्म कहते हैं।

श्री वीर—श्री शब्द का अर्थ है लक्ष्मी, उस के दो भेद हैं, अन्तरंग और वाह्य. अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्त

वीर्य आदि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को अन्तरंग–लक्ष्मी कहते हैं. १ अशोकवृक्ष, २ सुरपुष्पवृष्टि, ३ दिव्यध्वनि, ४ चामर, ५ आसन, ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि, और ८ आतपत्र ये आठ महाप्रातिहार्य हैं, इनको वाह्य–लक्ष्मी कहते हैं।

जिन—मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, आदि अन्तरंग शत्रुओं को जीत कर जिसने अपने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि गुणों को प्राप्त कर लिया है, उसे "जिन" कहते हैं।

कर्म—पुद्गल उसे कहते हैं, जिस में रूप, रस गन्ध और स्पर्श हों पृथिवी, पानी, आग और हवा, पुद्गल से वने हैं. जो पुद्गल, कर्म वंनते हैं, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज अथवा धूलि है जिस को इंद्रियां, यन्त्र की मदद से भी नहीं जान सकतीं. सर्वज्ञ परमात्मा अथवा परम-अवधि ज्ञान वाले योगी ही उस रज को देख सकते हैं; जीव के द्वारा जव वह रज, ग्रहण की जाती है तव उसे कर्म कहते हैं।

शरीर में तेल लगा कर कोई धूलि में लोटे, तो धूलि उस के शरीर में चिपक जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि से जीव के प्रदेशों में जव परिस्पंद होता है–अर्थात् हल चल होती है, तव, जिस आकाश में आत्मा के प्रदेश हैं, वहीं के अनन्त–अनन्त कर्म-योग्य पुद्गल परमाणु, जीव के एक२ प्रदेश के साथ वन्ध जाते हैं इस प्रकार जीव और कर्म का आपस में वन्ध होता है. दूध और पानी का तथा आग का और लोहे के गोले का जैसे सम्वन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का सम्वन्ध होता है।

कर्म और जीव का अनादि काल से सम्वन्ध चला आरहा है. पुराने कर्म अपना फल देकर आत्म–प्रदेशों से जुदे हो जाते हैं. और नये कर्म प्रति समय वन्धते जाते हैं. कर्म और जीव का

सादि सम्बन्ध मानने से यह दोष आता है कि "मुक्त जीवों को भी कर्मबन्ध होना चाहिये"।

कर्म और जीव का अनादि-अनन्त तथा सादि-सान्त दो प्रकार का सम्बन्ध है, जो जीव मोक्ष पाचुके या पावेंगे उन का कर्म के साथ अनादि-सान्त सम्बन्ध है, और जिन का कभी मोक्ष न होगा उन का कर्म के साथ अनादि-अनन्त सम्बन्ध है. जिन जीवों में मोक्ष पाने की योग्यता है उन्हें भव्य; और जिन में योग्यता नहीं है उन्हें अभव्य कहते हैं।

जीव का कर्म के साथ अनादि काल से सम्बन्ध होने पर भी जब जन्म-मरण-रूप संसार से छूटने का समय आता है तब जीव को विवेक उत्पन्न होता है—अर्थात् आत्मा और जड़ की जुदाई मालूम हो जाती है. तप-ज्ञान-रूप अग्नि के बल से वह सम्पूर्ण कर्म-मल को जला कर शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल हो जाता है. यही शुद्ध आत्मा, ईश्वर है, परमात्मा है अथवा ब्रह्म है।

स्वामी—शंकराचार्य भी उक्त अवस्था में पहुँचे हुये जीव को परब्रह्म-शब्द से स्मरण करते हैं,

प्राक्कर्म्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैःश्लिष्यतां।
प्रारब्धँ त्विहभुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्॥

अर्थात् ज्ञानबल से पहले बांधे हुये कर्मों को गला दो, नये कर्मों का बन्ध मत होने दो और प्रारब्ध कर्म को भोग कर क्षीण कर दो, इस के बाद परब्रह्मस्वरूप से अनन्त काल तक बने रहो. पुराने कर्मों के गलाने को "निर्जरा" और नये कर्मों के बन्ध न होने देने को "संवर" कहते हैं।

जब तक शत्रु का स्वरूप समझ में नहीं आता तब तक उस पर विजय पाना असम्भव है. कर्म से बढ़ कर कोई शत्रु नहीं है

जिस ने आत्मा की अखण्ड शान्ति का नाश किया है, अतएव उस शान्ति की जिन्हें चाह है, वे कर्म का स्वरूप जानें और भगवान् वीर की तरह कर्म-शत्रु का नाश कर अपने असली स्वरूप को प्राप्त करें और अपनी "वेदाहमेतं परमं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्" की दिव्यध्वनि को सुनाते रहें इसी के लिये कर्मग्रन्थ बने हुये हैं।

"कर्मबन्ध के चार भेद, मूलप्रकृतियों की और उत्तर-प्रकृतियों की संख्या"

पयइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।
मूलपगइट्ठउत्तरपगईअडवन्नसयभेयं ॥ २ ॥

(तं) वह कर्मबन्ध (मोयगस्स) लड्डुके (दिट्ठंता) दृष्टान्त से (पयइठिइरसपएसा) प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश की अपेक्षा से (चउहा) चार प्रकार का है (मूलपगइट्ठ) मूल-प्रकृतियां आठ और (उत्तरपगईअडवन्नसयभेयं) उत्तर-प्रकृतियां एकसौ अट्ठावन हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रथम गाथा में कर्म का स्वरूप कहा गया है उस के बन्ध के चार भेद हैं—१ प्रकृति-बन्ध २ स्थिति-बन्ध ३ रस-बन्ध और ४ प्रदेश-बन्ध. इन चार भेदों को समझाने के लिये लड्डुका दृष्टान्त दिया गया है, कर्म की मूल-प्रकृतियां आठ और उत्तर-प्रकृतियां एकसौ अट्ठावन १५८ हैं।

(१) प्रकृति-बन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म पुद्गलों में जुदे जुदे स्वभावों का अर्थात् शक्तियों का पैदा होना, प्रकृति-बन्ध कहलाता है।

(२) स्थिति-बन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म-पुद्गलों में अमुक काल तक अपने स्वभावों को त्याग न कर जीव के साथ रहने की काल-मर्यादा का होना, स्थिति-बन्ध कहलाता है।

(३) रस-बन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुये कर्म-पुद्गलों में रस के तरतम-भाव का—अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना, रस-बन्ध कहलाता है।

रस-बन्ध को अनुभाग-बन्ध, अनुभाव-बन्ध और अनुभव-बन्ध भी कहते हैं।

४—प्रदेशबन्ध—जीव के साथ, न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का सम्बन्ध होना, प्रदेश-बन्ध कहलाता है।

इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है:—

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥

अर्थात् स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलों की संख्या को प्रदेश कहते हैं।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में प्रकृति आदि का स्वरूप यों समझना चाहिये:—

वात-नाशक पदार्थों से—सोंठ, मिर्च, पीपल आदि से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार वायु के नाश करने का है; पित्त-नाशक पदार्थों से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार पित्त के दूर करने का है; कफ-नाशक पदार्थों से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव जिस प्रकार कफ के नष्ट करने का है उसी

प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किये हुये कुछ कर्म पुद्गलों में आत्मा के ज्ञान-गुण के घात करने की शक्ति उत्पन्न होती है; कुछ कर्म पुद्गलों में आत्मा के दर्शन-गुण को ढक देने की शक्ति पैदा होती है; कुछ कर्म-पुद्गलों में आत्मा के आनन्द-गुण को छिपा देने की शक्ति पैदा होती है; कुछ कर्म-पुद्गलों में आत्मा की अनन्त सामर्थ्य को दवा देने की शक्ति पैदा होती है, इस तरह भिन्न भिन्न कर्म पुद्गलों में, भिन्न भिन्न प्रकार की प्रकृतियों के अर्थात् शक्तियों के बन्ध को अर्थात् उत्पन्न होने को प्रकृति-बन्ध कहते हैं।

कुछ लड्डु एक सप्ताहतक रहते हैं, कुछ लड्डु एक पक्षतक, कुछ लड्डु एक महीने तक, इस तरह लड्डुओं की जुदी जुदी काल-मर्यादा होती है; कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं, स्थिति के पूर्ण होनेपर, लड्डु अपने स्वभाव को छोड देते हैं—अर्थात् विगड जाते हैं; इसी प्रकार कोई कर्म-दल आत्मा के साथ सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम तक; कोई कर्म दल वीस कोडा-कोडी सागरोपम तक; कोई कर्म दल अन्तर्मुहूर्त तक रहते हैं, इस तरह जुदे जुदे कर्मदलोंमें, जुदी जुदी स्थितियों का—अर्थात् अपने स्वभाव को त्याग न कर आत्मा के साथ बने रहनेकी काल—मर्यादाओं का बन्ध—अर्थात् उत्पन्न होना, स्थिति-बन्ध कहलाता है. स्थिति के पूर्ण होने पर कर्म-दल अपने स्वभाव को छोड देते हैं—आत्मासे जुदे होजाते हैं—

कुछ लड्डुओं में मधुर रस अधिक, कुछ लड्डुओं में कम; कुछ लड्डुओं में कटु-रस अधिक, कुछ लड्डुओं में कम, इस तरह मधुर-कटु आदि रसोंकी न्यूनाधिकता देखी जाती है; उसी प्रकार कुछ कर्म-दलोंमें शुभ-रस अधिक, कुछ कर्म-दलोंमें कम; कुछ कर्म दलोंमें अशुभ-रस अधिक, कुछ कर्म-दलोंमें कम, इसतरह विविधप्रकार के अर्थात् तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम मन्द-मन्दतर-मन्द

तम शुभ-अशुभ रसोंका कर्म-पुद्गलों में बन्धना-अर्थात् उत्पन्न होना, रस-बन्ध कहलाता है.

शुभ कर्मोंका रस, ईखद्राक्षादि के रसके सदृश मधुर होता है जिसके अनुभव से जीव खुश होता है. अशुभ कर्मोंका रस, नींव आदिके रसके सदृश कडुवा होता है जिसके अनुभव से जीव बुरी तरह घवरा उठता है. तीव्र, तीव्रतर आदिको समझनेके लिये दृष्टान्तकी तौरपर ईख या नींवका चार चार सेर रस लिया जाय. इस रसको स्वाभाविक रस कहना चाहिये. आंचके द्वारा औटा कर चार सेरकी जगह तीन सेर रस वच जाय तो उसे तीव्र कहना चाहिये; और औटानेसे दो सेर वच्च जाय तो तीव्रतर कहना चाहिये- और औटाकर एक सेर वच्च जाय तो तीव्रतम कहना चाहिये. ईख या नींवका एक सेर स्वाभाविक रस लिया जाय उसमें एक सेर पानीके मिलानेसे मन्दरस वन जायगा, दो सेर पानीके मिलानेसे मन्दतर रस वनेगा तीन सेर पानीके मिलानेसे मन्दतम रस वनेगा.

कुछ लडुओंका परिमाण दो तोले का, कुछ लडुओंका छटांक का और कुछ लडुओंका परिमाण पावभर का होता है उसी प्रकार कुछ कर्म-दलोंमें परमाणुओंकी संख्या अधिक और कुछ कर्म-दलोंमें कम. इस तरह भिन्न भिन्न प्रकारकी परमाणु संख्याओं से युक्त कर्म-दलोंका आत्मा से सम्बन्ध होना, प्रदेश-बंध कहलाता है.

संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त परमाणुओंसे वने हुये स्कन्धको जीव ग्रहण नहीं करता किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओंसे वने हुये स्कन्धको ग्रहण करता है.

मूल-प्रकृति—कर्मोंके मुख्य भेदोंको मूल-प्रकृति कहते हैं.

उत्तर-प्रकृति—कर्मों के अवान्तर भेदों को उत्तरप्रकृति कहते हैं।

"कर्मकी मूल-प्रकृतियों के नाम और हर एक मूल-प्रकृतिके अवान्तर भेदों की—उत्तर-भेदों की संख्या"

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥

(इह) इस शास्त्र में (नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र (च) और (विग्घं) अन्तराय, ये आठ कर्म कहे जाते हैं. इनके क्रमशः (पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं) पाँच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, एक सौ तीन, दो और पाँच भेद हैं॥ ३॥

भावार्थ—आठ कर्मोंके नाम ये हैं :—

१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय. पहले कर्मके उत्तर-भेद पाँच, दूसरे के नव, तीसरे के दो, चौथे के अट्ठाईस, पाँचवेंके चार, छट्टे के एक सौ तीन, सातवे के दो और आठवेंके उत्तर-भेद पाँच हैं, आठों कर्मों के उत्तर-भेदों की संख्या एकसौ अट्ठावन १५८ हुई.

चेतना आत्माका गुण है, उसके (चेतनाके) पर्यायको उपयोग कहते हैं. उपयोगके दो भेद हैं:—ज्ञान और दर्शन. ज्ञानको साकार उपयोग कहते हैं और दर्शनको निराकार उपयोग. जो उपयोग पदार्थोंके विशेष धर्मोंका—जाति, गुण, क्रिया आदिका ग्राहक है, वह ज्ञान कहा जाता है. और, जो उपयोग पदार्थों के सामान्य-धर्मका—अर्थात् सत्ताका ग्राहक है, उसे दर्शन कहते हैं.

(१) ज्ञानावरणीय — जो कर्म, आत्मा के ज्ञान-गुण को आच्छादित करे—ढंक देवे, उसे ज्ञानावरणीय कहते हैं,

(२) **दर्शनावरणीय** — जो कर्म आत्माके दर्शन-गुणको आच्छादित करे, वह दर्शना-वरणीय कहा जाता है।

(३) **वेदनीय**—जो कर्म आत्मा को सुख-दुःख पहुंचावे, वह वेदनीय.

(४) **मोहनीय**—जो कर्म स्व-पर-विवेकमें तथा स्वरूप-रमण में वाधा पहुँचाता है, वह मोहनीय कहा जाता है.

अथवा—जो कर्म आत्माके सम्यक्त्व-गुणका और चारित्र-गुणका घात करता है, उसे मोहनीय कहते हैं.

(५) **आयु**—जिस कर्मके अस्तित्वसे (रहनेसे) प्राणी जीता है तथा क्षय होने से मरता है, उसे आयु कहते हैं.

(६) **नाम**—जिस कर्मके उदयसे जीव नारक, तिर्यञ्च आदि नामोंसे सम्बोधित होता है—अर्थात् अमुक जीव नारक है, अमुक तिर्यञ्च है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, इस प्रकार कहा जाता है, उसे नाम कहते हैं.।

(७) **गोत्र**—जो कर्म, आत्मा को उच्च तथा नीच कुल में जन्मावे उसे गोत्र कहते हैं।

(८) **अन्तराय**—जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग, और उपभोग रूप शक्तियों का घात करता है वह अन्तराय कहा जाता है।

"ज्ञानावरणीय की पांच उत्तर-प्रकृतियों को कहने के लिये पहले ज्ञान के भेद दिखलाते हैं"

मइसुयओहीमणकेवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं।
वंजणवग्गहचउहा मणनयणविणिंदियचउक्का।।४।।

(मइसुयओहीमणकेवलाणि) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल, ये पाँच (नाणाणि) ज्ञान हैं. (तत्थ) उन में पहला (मइनाणं) मति-ज्ञान अट्ठाईस प्रकार का है, सो इस प्रकारः-(मणनयणविणिंदियचउक्का) मन और आंख के सिवा, अन्य चार इन्द्रियों को लेकर (वंजणवग्गह) व्यञ्जनावग्रह (चउहा) चार प्रकार का है।

भावार्थ—अब आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियां क्रमशः कही जायंगी. प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म है. उस की उत्तर-प्रकृतियों को समझाने के लिये ज्ञान के भेद दिखलाते हैं, क्योंकि ज्ञान के भेद समझ में आजाने से, उन के आवरण सरलता से समझ में आसकते हैं. ज्ञान के मुख्य भेद पाँच हैं, उनके नाम- मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधि-ज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान और केवल-ज्ञान. इन पांचों के हरएकके अवान्तर भेद-अर्थात् उत्तर-भेद हैं. मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद हैं.चार इस गाथामें कहेगये;बाकीके अगली गाथा में कहे जायँगे. इस गाथामें कहे हुये चार भेदोंके नामः- स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, घ्राणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह, रसनेन्द्रिय व्यञ्जनाग्रह और श्रवणेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह. आँख और मनसे व्यञ्जनावग्रह, नहीं होता, कारण यह है कि आँख और मन-ये दोनों, पदार्थोंसे अलग रह करही उनको ग्रहण करते हैं;और, व्यंजनावग्रह में तो इन्द्रियों का पदार्थों के साथ, संयोग सम्बन्ध का होना आवश्यक है. आँख और मन 'अप्राप्यकारी' कहलाते हैं. और अन्य इन्द्रियाँ 'प्राप्यकारी.' पदार्थों से मिल कर उन को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ प्राप्यकारी. पदार्थों से विना मिले ही उन को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं. तात्पर्य यह है कि, जो इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, उन्हीं से व्यञ्जनावग्रह होता है, अप्राप्यकारी से नहीं. आँखों में डाला हुआ अंजन, आँख से नहीं

दीखता; और मन, शरीर के अन्दर रह कर ही वाहरी पदार्थोंको ग्रहण करता है, अत एव ये दोनों, प्राप्यकरी नहीं हो सकते।

(१) **मति-ज्ञान**—इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मति-ज्ञान कहते हैं।

(२) **श्रुत-ज्ञान**—शास्त्रों के वाँचने तथा सुनने से जो अर्थ-ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान।

अथवा—मति-ज्ञानके अनन्तर होने वाला, और, शब्द तथा अर्थ की पर्या-लोचना जिस में हो, ऐसा ज्ञान, श्रुत-ज्ञान कहलाता है. जैसे कि घट-शब्द के सुनने पर अथवा आँख से घड़ेके देखने पर, उसके वनाने वाले का, उसके रंग का—अर्थात् तत्सम्वन्धी भिन्न भिन्न विषयों का विचार करना, श्रुतज्ञान कहलाता है।

(३) **अवधि-ज्ञान**—इन्द्रिय तथा मन की सहायता के विना, मर्यादा को लिये हुये, रूपवाले द्रव्य का जो ज्ञान होता है उसे अवधि-ज्ञान कहते हैं।

(४) **मनः पर्याय-ज्ञान**—इन्द्रिय और मन की मदद के विना, मर्यादा को लिये हुये, संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना, मनः पर्याय-ज्ञान कहा जाता है।

(५) **केवल-ज्ञान**—संसार के भूत भविष्यत् तथा वर्त-मान काल के सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत् (एक साथ) जानना, केवल-ज्ञान कहा जाता है.

आदिके दो ज्ञान—मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान, निश्चय नयसे परोक्ष-ज्ञान हैं, और व्यवहार नयसे प्रत्यक्ष ज्ञान.

अन्त के तीन ज्ञान, अवधि-ज्ञान मनः पर्यव-ज्ञान और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष हैं. केवल-ज्ञान को सकलप्रत्यक्ष कहते हैं और अवधि ज्ञान तथा मनःपर्यवज्ञान को देशप्रत्यक्ष.

आदि के दो ज्ञानों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रहती है किन्तु अन्त के तीन ज्ञानों में इन्द्रिय-मन की अपेक्षा नहीं रहती।

व्यञ्जनावग्रह—अव्यक्त-ज्ञानरूप-अर्थावग्रह से पहले होने वाला, अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहा जाता है. तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों का पदार्थ के साथ जब सम्बन्ध होता है तब "किमपीदम्" (यह कुछ है) ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं. उस से पहले होने वाला, अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान, व्यञ्जनावग्रह कहलाता है. यह व्यञ्जनावग्रह पदार्थ की सत्ता के ग्रहण करने पर होता है—अर्थात् प्रथम सत्ता की प्रतीति होती है, बाद् व्यञ्जनावग्रह।

स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह—स्पर्शन-इन्द्रिय के द्वारा जो अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, वह स्पर्शनेन्द्रिय व्यञ्जनावग्रह. इसी प्रकार अन्य तीन इन्द्रियों से होने वाले व्यञ्जनावग्रहों को भी समझना चाहिये।

व्यञ्जनावग्रहका जघन्य काल, आवलिका के असंख्यात वें भाग जितना है, और उत्कृष्ट काल श्वासोच्छ्वासपृथक्त्व अर्थात् दो श्वासोच्छ्वास से लेकर नव श्वासोच्छ्वास तक।

"मतिज्ञान के शेष भेद तथा श्रुत-ज्ञान के उत्तर भेदों की संख्या"

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा।
इय अट्ठवीस भेयं चउदसहा वीसहा व सुयं॥ ५॥

(अत्थुग्गहईहावायधारणा) अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा, ये प्रत्येक, (करणमाणसेहिं) करण अर्थात् पांच इंद्रियां और मन से होते हैं इसलिये (छहा) छह प्रकार के हैं (इय) इस प्रकार मति-ज्ञान के (अट्ठवीसभेयं) अट्ठाईस भेद हुये (सुयं) श्रुत-ज्ञान (चोउद्दसहा) चौदह प्रकार का (व) अथवा (वीसहा) वीस प्रकार का है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मति-ज्ञान के अट्ठाईस भेदों में से चार भेद पहले कह चुके अब शेष चौवीस भेद यहां दिखलाते हैं:- अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा, ये चार, मतिज्ञान के भेद हैं. ये चारों, पांचों इन्द्रियों से तथा मन से होते हैं इसलिये प्रत्येक के छह २ भेद हुये. छह को चार से गुणने पर चौवीस संख्या हुई. श्रुत-ज्ञान के चौदह भेद होते हैं, और वीस भेद भी होते हैं।

(१) **अर्थावग्रह**—पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं, जैसे "यह कुछ है." अर्थावग्रह में भी पदार्थ के वर्ण गन्ध आदिका ज्ञान नहीं होता. इसके छह भेद हैं:- १ स्पर्शनेन्द्रिय अर्थावग्रह, २ रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, ३ घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, ४ चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, ५ श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह, और ६ मन-नोइन्द्रिय अर्थावग्रह. अर्थावग्रह का काल- प्रमाण एक समय है।

(२) **ईहा**—अवग्रह से जाने हुये पदार्थ के विषय में धर्म विषयक-विचारणा को ईहा कहते हैं, जैसे कि "यह खम्भा ही होना चाहिये, मनुष्य नहीं"। ईहा के भी छह भेद हैं:—स्पर्शने-न्द्रिय ईहा, रसनेन्द्रिय ईहा इत्यादि । इस प्रकार आगे अपाय और धारणा के भेदों को समझना चाहिये। ईहा का काल, अन्त-र्मुहूर्त है।

(३) अपाय—ईहा से जाने हुये पदार्थ के विषय में " यह खम्भा ही है, मनुष्य नहीं " इस प्रकार के धर्म-विषयक निश्चयात्मक ज्ञान को अपाय कहते हैं। अपाय और अवाय दोनों का मतलब एक ही है। अपायका काल-प्रमाण अन्त-र्मुहूर्त है।

(४) धारणा—अपाय से जाने हुये पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न हो ऐसा जो दृढ़ ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं;—अर्थात् अपाय से जाने हुये पदार्थ का कालान्तर में स्मरण हो सके, इस प्रकार के संस्कार वाले ज्ञान को धारणा कहते हैं।

धारणा का काल-प्रमाण संख्यात तथा असंख्यात वर्षों का है।

मति ज्ञान को आभिनिवोधिक ज्ञान भी कहते हैं। जाति-स्मरण—अर्थात् पूर्व जन्म का स्मरण होना, यह भी मति-ज्ञान ही है। ऊपर कहे हुये अट्ठाईस प्रकार के मति ज्ञान के हर एक के वारह वारह भेद होते हैं, जैसे, १ वहु, २ अल्प, ३ वहुविध, ४ एकविध, ५ क्षिप्र, ६ चिर, ७ अनिश्रित, ८ निश्रित, ९ सन्दिग्ध, १० असन्दिग्ध, ११ ध्रुव और अध्रुव. शंख, नगाड़े आदि कई वाद्यों के शब्दों में से क्षयोपशम की विचित्रता के कारण, १ कोई जीव वहुत से वाद्यों के पृथक् पृथक् शब्द सुनता है; २ कोई जीव अल्प शब्द को सुनता है; ३ कोई जीव प्रत्येक वाद्य के शब्द के, तार-मन्द्र आदि वहुत प्रकार के विशेषों को जानता है, ४ कोई साधारण तौर से एक ही प्रकार के शब्द को सुनता है, ५ कोई जल्दी से सुनता है, ६ कोई देरी से सुनता है, ७ कोई ध्वजा के द्वारा देव-मन्दिर को जानता है, ८ कोई विना पताका के ही उसे जानता है, ९ कोई संशय-सहित जानता है, १० कोई विना संशय के जानता है, ११ किसी को जैसा पहिले ज्ञान हुआ था वैसा ही पीछे भी होता है, उसमें कोई फर्क नहीं होता, उसे ध्रुव ग्रहण

कहते हैं, १२ किसी के पहले तथा पीछे होने वाले ज्ञान में न्यूनाधिक रूप फर्क हो जाता है, उसे अध्रुवग्रहण कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के अवग्रह, ईहा, अपाय आदि के भेद समझना चाहिये। इस तरह श्रुतनिश्रित मति-ज्ञान के २८ को १२ से गुणने पर—तीन सौ छत्तीस ३३६ भेद होते हैं। अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के चार भेद हैं उनको ३३६ में मिलाने से मति ज्ञान के ३४० भेद होते हैं। अश्रुतनिश्रित के चार भेद—१ औत्पातिकी बुद्धि, २ वैनयिकी, ३ कार्मिकी और पारिणामिकी।

(१) औत्पातिकी बुद्धि—किसी प्रसंग पर, कार्य सिद्ध करने में एकाएक प्रकट होती है।

(२) वैनयिकी—गुरूओं की सेवा से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

(३) कार्मिकी—अभ्यास करते करते प्राप्त होने वाली बुद्धि।

(४) पारिणामिकी—दीर्घायु को बहुत काल तक संसार के अनुभव से प्राप्त होने वाली बुद्धि

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदों का यन्त्र ।
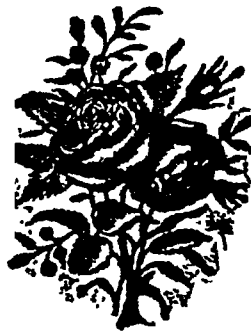
स्पर्शन-इन्द्रिय	घ्राण-इन्द्रिय	रसन-इन्द्रिय	श्रवण-इन्द्रिय	चक्षुः-इन्द्रिय	मन-नोइन्द्रिय	२८
१ व्यञ्जन अवग्रह	१ व्यञ्जन-अवग्रह	१ व्यञ्जन-अवग्रह	१ व्यञ्जन-अवग्रह	०	०	४
२ अर्थ-अवग्रह	२ अर्थ-अवग्रह	२ अर्थ-अवग्रह	२ अर्थ-अवग्रह	१ अर्थ-अवग्रह	१ अर्थ-अवग्रह	६
३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	२ ईहा	२ ईहा	६
४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	४ अपाय	३ अपाय	३ अपाय	६
५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	४ धारणा	४ धारणा	६

" श्रुत-ज्ञानके चौदह भेद "

अक्खरं सन्नी संमं साइअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥ ६ ॥

(अक्खर) अक्षर-श्रुत, (सन्नी) संज्ञि-श्रुत, (संमं) सम्यक् श्रुत, (साइअं) सादि-श्रुत (च) और (सपज्जवसियं) सपर्यवसित-श्रुत, (गमियं) गमिक-श्रुत और (अंगपविट्ठं) अंगप्रविष्ट-श्रुत (एए) ये (सत्तवि) सातों श्रुत, (सपडिवक्खा) सप्रतिपक्ष हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—पहले कहा गया है कि श्रुतज्ञानके चौदह अथवा वीस भेद होते हैं. यहां चौदह भेदोंको कहते हैं. गाथामें सात भेदों के नाम दिये हैं, उनसे अन्य सात भेद, सप्रतिपक्षशब्द से लिये जाते हैं. जैसे कि अक्षरश्रुतका प्रतिपक्षी अनक्षर-श्रुत; संज्ञि-श्रुतका प्रतिपक्षी असंज्ञि-श्रुत इत्यादि. चौदहोंके नाम ये हैं।

१ अक्षर-श्रुत, २ अनक्षर-श्रुत, ३ संज्ञि-श्रुत, ४ असंज्ञि-श्रुत, ५ सम्यक्-श्रुत, ६ मिथ्या-श्रुत, ७ सादि-श्रुत, ८ अनादि-श्रुत, ९ सपर्यवसित-श्रुत, १० अपर्यवसित-श्रुत, ११ गमिक-श्रुत, १२ अगमिक-श्रुत, १३ अंगप्रविष्ट-श्रुत और १४ अंगबाह्य-श्रुत.

(१) अक्षरश्रुत—अक्षर के तीन भेद हैं, १ संज्ञाक्षर, २ व्यंजनाक्षर और ३ लब्ध्यक्षर।

(क)—जुदी जुदी लिपियां-जो लिखने के काम में आती हैं- उनको संज्ञाक्षर कहते हैं।

(ख)—अकार से लेकर हकार तक के वर्ण-जो उच्चारणके काम में आते हैं—उनको व्यंजनाक्षर कहते हैं—अर्थात् जिनका बोलने में उपयोग होता है, वे वर्ण, व्यंजनाक्षर कहलाते हैं।

संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर से भाव-श्रुत होता है, इसलिये इन दोनों को द्रव्य-श्रुत कहते हैं।

(ग) शब्द के सुनने या रूपके देखने आदिसे, अर्थ की प्रतीति के साथ २ जो अक्षरों का ज्ञान होता है, उसे लब्ध्यक्षर कहते हैं।

(२) अनक्षरश्रुत—छींकना, चुटकी बजाना, सिर हिलाना इत्यादि संकेतोंसे, औरोंका अभिप्राय जानना, अनक्षर-श्रुत।

(३) संज्ञिश्रुत—जिन पञ्चेन्द्रिय जीवोंको मन है, वे संज्ञी, उनका श्रुत, संज्ञि-श्रुत।

संज्ञीका अर्थ है संज्ञा जिनको हो, संज्ञाके तीन भेद हैं:—दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी।

(क) मैं अमुक काम कर चुका, अमुक काम कर रहा हूं और अमुक काम करूंगा इस प्रकार का भूत, वर्तमान और भविष्यत् का ज्ञान जिससे होता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा. संज्ञि श्रुतमें जो संज्ञी लिये जाते हैं, वे दीर्घकालिकी संज्ञा वाले. यह संज्ञा, देव-नारक तथा गर्भज तिर्यञ्च-मनुष्यों को होती है.

(ख) अपने शरीरके पालन के लिये इष्ट वस्तुमें प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तुसे निवृत्ति के लिये उपयोगी, मात्र वर्तमान कालिक ज्ञान जिससे होता है, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा. यही संज्ञा असंज्ञी जीवोंको होती है.

(ग) दृष्टिवादोपदेशिकी—यह संज्ञा, चतुर्दशपूर्वधरको होती है.

(४) जिन जीवोंको मन नहीं है, वे असंज्ञी, उनका श्रुत, असंज्ञी-श्रुत कहा जाता है.

(५) सम्यक्-श्रुत-सम्यग्दृष्टि जीवोंका श्रुत, सम्यक्-श्रुत है.

(६) मिथ्यादृष्टि जीवोंका श्रुत, मिथ्या-श्रुत है.

(७) सादि-श्रुत—जिसका आदि हो वह सादि-श्रुत.

(८) अनादि-श्रुत—जिसका आदि न हो, वह अनादिश्रुत.

(९) सपर्यवसित-श्रुत—जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसित-श्रुत.

(१०) अपर्यवसित-श्रुत—जिसका अन्त न हो, वह अपर्यवसितश्रुत.

(११) गमिक-श्रुत—जिस में एक सरीखे पाठ हों वह गमिक-श्रुत, जैसे दृष्टिवाद.

(१२) अगमिक-श्रुत—जिस में एक सरीखे पाठ न हों, वह अगमिक-श्रुत जैसे कालिक-श्रुत.

(१३) अङ्गप्रविष्ट-श्रुत—आचाराङ्ग आदि बारह अङ्गोंके ज्ञानकोअङ्ग प्रविष्ट-श्रुत कहते हैं.

(१४) अङ्गबाह्य-श्रुत—द्वादशाङ्गीसे जुदा, दशवैकालिक-उत्तराध्ययन-प्रकरणादिका ज्ञान, अङ्गबाह्य-श्रुत कहा जाता है.

सादि-श्रुत, अनादि-श्रुत, सपर्यवसित-श्रुत और अपर्यव सित-श्रुत-ये प्रत्येक, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे चार चार प्रकारके हैं. जैसे,—द्रव्यको लेकर एक जीवकी अपेक्षासे श्रुत-ज्ञान, सादि-सपर्यवसित है—अर्थात् जब जीवको सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, तब साथ श्रुतज्ञान भी हुआ; और जब वह सम्यक्त्व का वमन (त्याग) करता है तब, अथवा केवली होता है तब श्रुत-ज्ञानका अन्त हो जाता है, इस प्रकार एक जीवकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान, सादि-सान्त है.

सब जीवोंकी अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान अनादि-अनन्त है क्योंकि संसार में पहले पहल अमुक जीवको श्रुत-ज्ञान हुआ तथा अमुक जीवके मुक्त होनेसे श्रुत-ज्ञान का अन्त होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता—अर्थात् प्रवाह-रूपसे सब जीवोंकी अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान, अनादि—अनन्त है।

क्षेत्रकी अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान, सादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त है. जब भरत तथा ऐरवत क्षेत्रमें तीर्थकी स्थापना होती है, तब से द्वादशाङ्गी-रूप श्रुतकी आदि; और जब तीर्थ का विच्छेद होता है, तब श्रुतका भी अन्त हो जाता है, इस प्रकार श्रुत-ज्ञान सादि-सान्त हुआ. महाविदेह क्षेत्रमें तीर्थका विच्छेद कभी नहीं होता इस लिये वहां श्रुत-ज्ञान, अनादि--अनन्त है।

कालकी अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान सादि-सान्त और अनादि—अनन्त है. उत्सर्पिणी--अवसर्पिणी कालकी अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान सादि-सान्त है क्योंकि तीसरे आरेके अन्त में और चौथे तथा पांचवे आरेमें रहता है, और, छठे आरेमें नष्ट हो जाता है. नो

उत्सर्पिणी-नो अवसर्पिणी कालकी अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान अनादि अनन्त है. महाविदेह क्षेत्रमें नोउत्सर्पिणी-नोअवसर्पिणी काल है—अर्थात् उक्त क्षेत्रमें उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीरूप कालका विभाग नहीं है. भावकी अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान सादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त है. भव्यकी अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान सादि-सान्त तथा अभव्य की अपेक्षा से कुश्रुत, अनादि-अनन्त है. भव्यत्व और अभव्यत्व—दोनों, जीवके पारिणामिक भाव हैं. यहां श्रुत-शब्द से सम्यक्-श्रुत तथा कु-श्रुत—दोनों लिये गये हैं. सपर्यवसित और सान्त-दोनों का अर्थ एकही है. इसी तरह अपर्यवसित और अनन्त दोनों का अर्थ एक है।

"श्रुत-ज्ञानके बीस भेद"

पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो
पाहुड पाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य ससमासा ॥ ७॥

(पज्जय) पर्यायश्रुत, (अक्खर) अक्षर-श्रुत, (पय) पद-श्रुत, (संघाय) सङ्घात -श्रुत, (पडिवत्ति) प्रतिपत्ति-श्रुत (तहय) उसी प्रकार (अणुओगो) अनुयोग-श्रुत, (पाहुड) प्राभृत—श्रुत, (पाहुड पाहुड) प्राभृत-प्राभृत-श्रुत (वत्थू) वस्तु-श्रुत (य) और (पुव्व) पूर्व-श्रुत, ये दसों (ससमासा) समास-सहित हैं—अर्थात् दसों के साथ "समास" शब्द को जोड़ने से दूसरे दस भेद भी होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस गाथा में श्रुत-ज्ञान के बीस भेद कहे गये हैं. उनके नाम १ पर्याय-श्रुत, २ पर्याय-समास-श्रुत, ३ अक्षर-श्रुत, ४ अक्षर-समास-श्रुत, ५ पद-श्रुत, ६ पद-समास-श्रुत,

७ संघात-श्रुत, ८ संघात-समास-श्रुत, ९ प्रतिपत्ति-श्रुत, १० प्रतिपत्ति-समास-श्रुत, ११ अनुयोग-श्रुत, १२ अनुयोग समास-श्रुत, १३ प्राभृत-प्राभृत-श्रुत, १४ प्राभृत-प्राभृत समास श्रुत, १५ प्राभृत-श्रुत, १६ प्राभृत-समास-श्रुत, १७ वस्तु-श्रुत, १८ वस्तुसमास-श्रुत, १९ पूर्व-श्रुत, २० पूर्वसमास-श्रुत।

(१) **पर्यायश्रुत**—उत्पत्तिके प्रथमसमय में, लब्धि-अपर्याप्त, सूक्ष्म-निगोद के जीवको जो कुश्रुत का अंश होता है, उस से दूसरे समय में ज्ञान का जितना अंश बढ़ता है, वह पर्याय—श्रुत।

(२) **पर्यायसमास श्रुत**—उक्त पर्यायश्रुत के समुदायको—अर्थात् दो, तीन, आदि संख्याओं को पर्याय-समास-श्रुत कहते हैं।

(३) **अक्षरश्रुत**—अकार आदि लब्ध्यक्षरोंमें से किसी एक अक्षर को अक्षर-श्रुत कहते हैं।

(४) **अक्षर-समास-श्रुत**—लब्ध्यक्षरों के समुदाय को अर्थात् दो, तीन आदि संख्याओं को अक्षर-समास-श्रुत कहते हैं।

(५) **पदश्रुत**—जिस अक्षर-समुदाय से पूरा अर्थ मालूम हो, वह पद, और उस के ज्ञान को पद-श्रुत कहते हैं।

(६) **पदसमास-श्रुत**—पदों के समुदाय का ज्ञान, पद-समास-श्रुत।

(७) **संघातश्रुत**—गति आदि चौदह मार्गणाओं में से, किसी एक मार्गणा के एक देश के ज्ञान को संङ्घात-श्रुत कहते हैं।

से गति मार्गणा के चार अवयव हैं; १ देव-गति, २ मनुष्य-गति, ३ तिर्यञ्च-गति और नारक-गति, इन में से एक का ज्ञान सङ्घात श्रुत कहलाता है।

(८) सङ्घात समास-श्रुत—किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवों का ज्ञान, सङ्घातसमास-श्रुत।

(९) प्रतिपत्तिश्रुत—गति, इन्द्रिय आदि द्वारो में से किसी एक द्वार के ज़रिये समस्त संसार के जीवों को जानना, प्रतिपत्तिश्रुत।

(१०) प्रतिपत्ति-समास-श्रुत—गति आदि दो चार द्वारों के ज़रिये जीवों का ज्ञान, प्रतिपत्तिसमास-श्रुत।

(११) अनुयोग-श्रुत—" संतपयपरूवणया दव्वप-माणं च" इस गाथा में कहे हुये अनुयोगद्वारों में से किसी एक के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानना, अनुयोग-श्रुत।

(१२) अनुयोग-समास-श्रुत—एक से अधिक-दो तीन अनुयोग-द्वारों का ज्ञान, अनुयोगसमास-श्रुत।

(१३) प्राभृत-प्राभृत-श्रुत—दृष्टिवाद के अन्दर प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार हैं, उन में से किसी एक का ज्ञान, प्राभृत-प्राभृत-श्रुत।

(१४) प्राभृत-प्राभृत-समास-श्रुत—दो, चार प्राभृतप्राभृतों के ज्ञान को प्राभृत-प्राभृत-समास-श्रुत कहते हैं।

[१५] प्राभृत श्रुत—जिस प्रकार कई उद्देशों का एक अध्ययन होता है, वैसे ही कई प्राभृतप्राभृतों का एक प्राभृत होता है, उस का एक का ज्ञान, प्राभृतश्रुत।

(१६) प्राभृत-समासश्रुत—एक से अधिक प्राभृतों का ज्ञान, प्राभृत-समास-श्रुत।

[१७] वस्तु-श्रुत—कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है उस का एक का ज्ञान वस्तु-श्रुत।

[१८] वस्तु-समास-श्रुत—दो चार वस्तुओं का ज्ञान, वस्तु-समास-श्रुत।

[१९] पूर्वश्रुत—अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है, उस का एक का ज्ञान, पूर्व-श्रुत.

[२०] पूर्व-समास-श्रुत—दो चार वस्तुओं का ज्ञान, पूर्व-समास-श्रुत।

चौदह पूर्वों के नाम ये हैं—१ उत्पाद, २. आग्रायणीय, ३ वीर्यप्रवाद, ४ अस्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यानप्रवाद, १० विद्याप्रवाद, ११ कल्याण १२ प्राणवाद, १३ क्रियाविशाल, और १४ लोक-विन्दुसार।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से श्रुत-ज्ञान चार प्रकार का है. शास्त्र के बल से, श्रुत-ज्ञानी साधारणतया सब द्रव्य, सब क्षेत्र, सब काल और सब भावों को जानते हैं।

"अवधि ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान के भेद"

अणुगामि वड्ढमाणय पडिवाईयरविहा छहा ओही।
रिउमइ विमलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥

(अणुगामि) अनुगामि, (वड्ढमाणय) वर्धमान, (पडिवाइ) प्रतिपति तथा (इयरविहा) दूसरे प्रतिपत्ति—भेदों से (ओही) अवधिज्ञान, (छद्दा) छह प्रकार का है। (रिउमइ) ऋजुमति और (विउलमई) विपुल-मति यह दो, (मणनाणं) मनः पर्यव-ज्ञान हैं। (केवल मिगाविहाणं) केवल-ज्ञान एक ही प्रकार का है—अर्थात् उसके भेद नहीं हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—अवधि-ज्ञान दो प्रकार का है,—भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय। जो अवधि-ज्ञान जन्म से ही होता है उसे भव-प्रत्यय कहते हैं, और वह देवों तथा नारक जीवों को होता है। किन्हीं किन्हीं मनुष्यों तथा तिर्यञ्चों को जो अवधि-ज्ञान होता है, वह गुण-प्रत्यय कहलाता है। तपस्या, ज्ञान की आराधना आदि कारणों से गुण-प्रत्यय अवधि-ज्ञान होता है। इस गाथा में गुण-प्रत्यय अवधि-ज्ञान के छह भेद दिखलाये गये हैं, उनके नाम:—१ अनुगामि, २ अननुगामि, ३ वर्धमान, ४ हीयमान, ५ प्रतिपाति और ६ अप्रतिपाति।

(१) **अनुगामि**—एक जगह से दूसरी जगह जाने पर भी जो अवधि-ज्ञान, आंख के समान साथ ही रहे, उसे अनु-गामि कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस जगह जिस जीव में यह ज्ञान प्रकट होता है, वह जीव उस जगह से, संख्यात या असंख्यात योजन के क्षेत्रों को चारों तरफ़ जैसे देखता है, उसी प्रकार दूसरी जगह जाने पर भी उतने ही क्षेत्रों को देखता है।

(२) **अननुगामि**—जो अनुगामि से उल्टा हो—अर्थात् जिस जगह अवधि-ज्ञान प्रकट हुआ हो, वहां से अन्यत्र जाने पर वह (ज्ञान) नहीं रहे।

(३) वर्धमान—जो अवधि-ज्ञान, परिणामविशुद्धि के साथ, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा को लिये दिन दिन बढे उसे वर्धमान अवधि कहते हैं।

(४) हीयमान—जो अवधि-ज्ञान परिणामों की अशुद्धि से दिन दिन घटे—कम होता जाय, उसे हीयमान अवधि कहते हैं।

(५) प्रतिपाति—जो अवधि-ज्ञान, फूंक से दीपक के प्रकाश के समान यकायक गायब हो जाय—चला जाय उसे प्रतिपाति अवधि कहते हैं।

[६] अप्रतिपाति—जो अवधि-ज्ञान, केवल-ज्ञान से अन्तर्मुहूर्त पहले प्रकट होता है, और वाद केवल-ज्ञान में समा जाता है उसे अप्रतिपाति अवधि कहते हैं. इसी अप्रतिपाति को परमावधि भी कहते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवधि-ज्ञान चार प्रकार का है।

[क] द्रव्य—अवधि-ज्ञानी जघन्य से—अर्थात् कम से कम अनन्त रूपि-द्रव्यों को जानते और देखते हैं।

उत्कृष्ट से—अर्थात् अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपि-द्रव्यों को जानते तथा देखते हैं।

[ख] क्षेत्र—अवधि ज्ञानी कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यों को जानते तथा देखते हैं। और अधिक से अधिक, अलोक में, लोक-प्रमाण असंख्य खण्डों को जान सकते तथा देख सकते हैं।

अलोक में कोई पदार्थ नहीं है तथापि यह असत्कल्पना की जाती है कि अलोक में, लोकप्रमाण असंख्यात खण्ड, जितने

क्षेत्र को घेर सकते हैं, उतने क्षेत्र के रूपि-द्रव्यों को जानने तथा देखने की शक्ति अवधि-ज्ञानी में होती है। अवधिज्ञान के सामर्थ्य को दिखलाने के लिये असत्कल्पना की गई है।

[ग] काल—कम से कम, अवधि-ज्ञानी आवलिका के असंख्यातवें भाग जितने काल के रूपि-द्रव्यों को जानता तथा देखता है, और अधिक से अधिक, असंख्य उत्सर्पिणीअवसर्पिणी प्रमाण, अतीत और अनागत काल के रूपि-पदार्थों को जानता तथा देखता है।

(घ) भाव—कमसे कम, अवधिज्ञानी रूपि-द्रव्यके अनंत भावों को—पर्यायों को जानता तथा देखता है. और अधिक से अधिक भी अनन्त भावों को जानता तथा देखता है. अनन्त के अनन्त भेद होते हैं, इसलिये जघन्य और उत्कृष्ट अनन्त में फर्क समझना चाहिये. उक्त अनन्त भाव, सम्पूर्ण भावों के अनन्तवें भाग जितना है।

जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के मति तथा श्रुत को मति-अज्ञान तथा श्रुत-अज्ञान कहते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अवधि को विभंग-ज्ञान कहते हैं।

मनःपर्याय-ज्ञान के दो भेद हैं;— १ ऋजु-मति और २ विपुलमति।

[१] ऋजुमति—दूसरे के मन में स्थित पदार्थ सामान्य स्वरूप को जानना—अर्थात् इसने घड़े को लाने तथा रखने का विचार किया है, इत्यादि साधारण-रूपसे जानना, ऋजुमति ज्ञान कहलाता है।

(२) विपुलमति—दूसरे के मनमें स्थित पदार्थ के अनेक पर्यायों का जानना—अर्थात् इसने जिस घड़ेका विचार

किया है वह अमुक धातुका है, अमुक जगह का बना हुआ है, अमुक रंगका है, इत्यादि विशेष अवस्थाओं के ज्ञान को विपुल मति-ज्ञान कहते हैं।

अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल- भावकी अपेक्षा मनः पर्याय ज्ञानके चार भेद हैं।

(क) द्रव्य से ऋजुमति मनो-वर्गणा के अनन्त-प्रदेशवाले अनन्त स्कन्धों को देखता है. और विपुलमति, ऋजुमति की अपेक्षा अधिक-प्रदेशोंवाले स्कन्धों को, अधिक स्पष्टता से देखता हैं।

(ख) क्षेत्रसे, ऋजु-मति तिरछी दिशामें ढाई द्वीप; ऊर्ध्व दिशामें (ऊपर) ज्योतिश्चक्रके ऊपर का तल; और अधोदिशा में (नीचे) कुबड़ी-उंडीविजय तक के संज्ञी जीवके मनो-गतभावोंको देखता है. विपुल-मति, ऋजुमति की अपेक्षा ढाई अंगुल अधिक तिरछे क्षेत्रके संज्ञी जीवके मनोगत भावोंको देखता है।

(ग) काल से, ऋजुमति पल्योपमके असंख्यातवें भाग जितने भूत-काल तथा भविष्य-काल के मनोगत भावोंको देखता है. विपुल-मति, ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक कालके, मनसे चिन्तित, या मन से जिनका चिन्तन होगा, ऐसे पदार्थों को देखता है।

[घ] भावसे, ऋजुमति मनोगत द्रव्य के असंख्यात पर्यायों को देखता है. और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायों को देखता है।

केवल-ज्ञान-में किसी प्रकार का भेद नहीं है, सम्पूर्ण द्रव्य और उनके सम्पूर्ण पर्यायों को केवल ज्ञानी एकही समय में जान

लेता है. अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान का कोई भी परिवर्तन उससे छिपा नहीं रहता. उसे निरावरण ज्ञान और क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं ।

मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान पंचमहाव्रती को होते हैं, अन्यको नहीं. माता मरु देवी को केवल ज्ञान हुआ, उस से पहले वह भावसे सर्वविरता थी ।

इस तरह मतिज्ञानके २८, श्रुत ज्ञानके १४, अथवा २०, अवधिज्ञानके ६, मनःपर्यायके २, तथा केवल-ज्ञानका १, इन सब भेदों को मिलाने से, पांचों ज्ञानों के ५१ भेद होते हैं अथवा ५७ भेद भी होते हैं ।

" अब उनके आवरणोंको कहते हैं "

एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं ।
दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ॥ ९ ॥

(चक्खुस्स) आंखके (पडुव्व) पट-पट्टी के समान,(एसिं) इन मति आदि पांच ज्ञानों का (जं) जो (आवरणं) आवरण है, (तं) वह (तयावरणं) उनका आवरण कहा जाता है—अर्थात् मति ज्ञान का आवरण, मतिज्ञानावरण; श्रुतज्ञानका आवरण, श्रुतज्ञानावरण, इस प्रकार दूसरे आवरणोंको भी समझना चाहिये. (दंसणावरणं) दर्शनावरण कर्म, (वित्तिसमं) वेत्री—दरवान के सदृश है. उसके नव भेद हैं, सो इस प्रकार— दंसणचउ) दर्शनावरण—चतुष्क और (पण निद्दा) पाँच निद्राएँ ॥ ९ ॥

भावार्थ—ज्ञानके आवरण करने वाले कर्मको ज्ञानावरण अथवा ज्ञानावरणीय कहते हैं. जिस प्रकार आँख पर कपड़ेकी पट्टी लपेटने से वस्तुओंके देखने में रुकावट होती है; उसी प्रकार

ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्माको, पदार्थों के जानने में रुकावट पहुँचती है. परन्तु ऐसी रुकावट नहीं होती कि जिससे आत्माको किसी प्रकार का ज्ञान ही न हो. चाहे जैसे घने वादलों से सूर्य घिर जाय तौभी उसका कुछ न कुछ प्रकाश—जिससे कि रात—दिनका भेद समझा जा सकता है, ज़रूर बना रहता है. इसी प्रकार कर्मों के चाहे जैसे गाढ़ आवरण क्यों न हों, आत्माको कुछ न कुछ ज्ञान होता ही रहता है. आँखके पट्टीका जो दृष्टान्त दिया गया है उसका अभिप्राय यह है कि, पतले कपड़े की पट्टी होगी तो कुछ ही कम दीखेगा; गाढ़े कपड़े की पट्टी होगी तो बहुत कम दीखेगा इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मों की आच्छादन करनेकी शक्ति जुदी २ होती है.

[१] मतिज्ञानावरणीय—भिन्न भिन्न प्रकारके मति ज्ञानों के आवरण करने वाले, भिन्न भिन्न कर्मों को मति—ज्ञानावरणीय कहते हैं. तात्पर्य यह है कि, पहले मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद कहे गये, और दूसरी अपेक्षासे तीनसौ चालीस भेद भी कहे गये, उन सभोंके आवरण करने वाले कर्म भी जुदे जुदे हैं, उनका "मतिज्ञानावरण" इस एक शब्दसे ग्रहण होता है. इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये.

[२] श्रुतज्ञानावरणीय—श्रुत-ज्ञानके चौदह अथवा वीस भेद कहे गये, उनके आवरण करने वाले कर्मों को श्रुत ज्ञानावरणीय कहते हैं.

[३] अवधिज्ञानावरणीय—पूर्वोक्त भिन्न भिन्न प्रकार के अवधिज्ञानोंके आवरण करने वाले कर्मों को अवधिज्ञानावरणीय कहते हैं.

[४] **मनःपर्यायज्ञानावरणीय**—मनःपर्यायज्ञानके आवरण करनेवाले कर्मोंको मनःपर्यायज्ञानावरणीय कहते हैं.

[५] **केवलज्ञानावरणीय**—केवलज्ञान के आवरण करने वाले कर्म्मों को केवलज्ञानावरणीय कहते हैं, इन पाँचो ज्ञानावरणों में केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाती है, और दूसरे चार देशघाती. दर्शनावरणीय कर्म, द्वारपाल के समान है. जिस प्रकार द्वारपाल, जिस पुरुषसे वह नाराज है, उसको राजाके पास जाने नहीं देता, चाहे राजा उसे देखना भी चाहे. उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म, जीव रूपी राजा की पदार्थों के देखने की शक्ति में रुकावट पहुंचाता है. दर्शनावरणीय-चतुष्क और पांच निद्राओं को मिला कर दर्शनावरणीय के नव भेद होते हैं, सो आगे दिखलावेंगे।

"दर्शनावरणीयचतुष्क"

चक्खूदिट्ठिअचक्खूसेसिंदियओहिकेवलेहिं च।
दंसणमिह सामन्नं तस्सावरणं तयं चउहा॥ १०॥

(चक्खुदिट्ठि) चक्षु का अर्थ है दृष्टि-अर्थात् आंख, (अचक्खू सेसिंदिय) अचक्षु का अर्थ है शेष इन्द्रियां अर्थात् आंख को छोड़ कर अन्य चार इन्द्रियां, (ओहि) अवधि और (केवलेहिं) केवल, इनसे (दंसणं) दर्शन होता है जिसे कि (इह) इस शास्त्र में (सामन्नं) सामान्य उपयोग कहते हैं. (तस्सावरणं) उस का आवरण, (तयंचउहा) उन दर्शनों के चार नामों के भेद से चार प्रकार का है. (च) "केवलेहिं च" इस "च" शब्द से, शेष इन्द्रियों के साथ मन के ग्रहण करने की सूचना दी गई है॥ १०॥

भावार्थ—दर्शनावरण चतुष्क का अर्थ है दर्शनावरण के चार भेद; वे ये हैं;–१ चक्षुर्दर्शनावरण, २ अचक्षुर्दर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण और ४ केवलदर्शनावरण.

[१] चक्षुर्दर्शनावरण—आंख के द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं, उस सामान्य ग्रहण को रोकने वाला कर्म, चक्षुर्दर्शनावरण कहलाता है।

(२) अचक्षुर्दर्शनावरण—आँख को छोड़ कर त्वचा, जीभ, नाक, कान और मन से जो पदार्थों के सामान्य-धर्म का प्रतिभास होता है, उसे अचक्षुर्दर्शन कहते हैं, उस का आवरण, अचक्षुर्दर्शनावरण।

[३] अवधिदर्शनावरण—इन्द्रिय और मनकी सहायता के विना ही आत्मा को रूपि-द्रव्य के सामान्य-धर्म का जो बोध होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं, उसका आवरण अवधिदर्शनावरण।

[४] केवलदर्शनावरण—संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्य अवबोध होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं, उसका आवरण केवल दर्शनावरण कहा जाता है।

विशेष—चक्षुर्दर्शनावरण कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों को जन्म से ही आंखें नहीं होती. चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की आंखें उक्त कर्म के उदय से नष्ट हो जाती हैं अथवा रतौंधी आदि के हो जाने से उनसे कम दीख पड़ता है. इसी प्रकार, शेष इन्द्रियों और मनवाले जीवों के विषय में भी उन इन्द्रियों का और मन का जन्म से ही न होना अथ

वा जन्म से होने परभी कमज़ोर अथवा अस्पष्ट होना, पहिले के समान समझना चाहिये. जिस प्रकार अवधिदर्शन माना गया है उसी प्रकार मनःपर्यायदर्शन क्यों नहीं माना गया, ऐसा सन्देह करना इस लिये ठीक नहीं है कि मनःपर्यायज्ञान, क्षयोपशम के प्रभाव से विशेष धर्मों को ही ग्रहण करते हुये उत्पन्न होता है सामान्य को नहीं।

"अब पांच निद्राओं को कहेंगे, इस गाथा में आदि की चार निद्राओं का स्वरूप कहते हैं"

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा।
पयला ठिओवविट्ठस्स पयलपयला य चंकमओ।११।

(सुहपडिबोहा) जिस में बिना परिश्रम के प्रतिबोध हो, वह (निद्दा) निद्रा; (य) और (दुक्खपडिबोहा) जिस में कष्ट से प्रतिबोध हो, वह (निद्दानिद्दा) निद्रानिद्रा; (ठिओवविट्ठस्स) स्थित और उपविष्ट को (पयला) प्रचला होती है; (चंकमओ) चंक्रमतः—अर्थात् चलने-फिरने वाले को (पयलपयला) प्रचला प्रचला होती है ॥ ११ ॥

भावार्थ—दर्शनावरणीय कर्म के नव भेदों में से चार भेद पहले कह चुके हैं, अब पांच भेदों को कहते हैं, उन के नाम ये हैं;- १ निद्रा, २ निद्रानिद्रा, ३ प्रचला, ४ प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि.

[१] निद्रा—जो सोया हुआ जीव, थोड़ीसी आवाज़ से जागता है—अर्थात् जिसे जगाने में मेहनत नहीं पड़ती, उसकी नींद को निद्रा कहते हैं, और, जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उस कर्म का भी नाम 'निद्रा' है।

[२] निद्रानिद्रा—जो सोया हुआ जीव, बड़े ज़ोर से चिल्लाने या हाथ से ज़ोर से हिलाने पर बड़ी मुश्किल से जागता है, उस की नींद को निद्रानिद्रा कहते हैं; जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे, उस कर्म का भी नाम 'निद्रानिद्रा' है।

[३] प्रचला—खड़े २ या बैठे २ जिस को नींद आती है, उस की नींद को प्रचला कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे, उस कर्म का भी नाम 'प्रचला' है।

[४] प्रचलाप्रचला—चलते फिरते जिसको नींद आती है, उस की नींद को प्रचलाप्रचला कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे, उस कर्म का भी नाम 'प्रचलाप्रचला' है।

"स्त्यानर्द्धिका स्वरूप और वेदनीय कर्म का स्वरूप"

दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहाउ वेयणियं॥१२॥

(दिणचिंतियत्थकरणी) दिनमें सोचे हुये कामको करने वाली निद्राको (थीणद्धी) स्त्यानर्द्धि कहते हैं, इस निद्रा में जीवको (अद्धचक्किअद्धबला) अर्द्धचक्री—अर्थात् वासुदेव, उसका आधा बल होता है. (वेयणियं) वेदनीय कर्म, (महुलित्तखग्ग धारालिहणं व) मधुसे लिप्त, खड्गकी धाराको चाटनेके समान है, और यह कर्म (दुहाउ) दो ही प्रकारका है ॥ १२ ॥

भावार्थ—स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है, जिसमें आत्माकी शक्ति, पिण्डित—अर्थात् इकट्ठी होती है, उसे स्त्यानर्द्धि कहते हैं.

(५) स्त्यानगृद्धि—जो जीव, दिनमें अथवा रातमें सोचे हुये कामको नींदकी हालतमें कर डालता है, उसकी नींदको स्त्यानगृद्धि कहते हैं, जिस कर्मके उदयसे ऐसी नींद आती है,

उस कर्म का भी नाम स्त्यानगृद्धि है.

वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन वाले जीवको, जब इस स्त्यानर्द्धि कर्मका उदय होता है, तब उसे वासुदेवका आधा बल हो जाता है, यह जीव, मरने पर अवश्य नरक जाता है.

तीसरा कर्म वेदनीय है, इसे वेद्य कर्म भी कहते हैं, इस का स्वभाव, तलवारकी शहद लगी हुई धाराको चाटनेके समान है.वेद-नीय कर्मके दो भेद हैं,१ सातवेदनीय और सातवेदनीय.तलवार की धारमें लगे हुये शहदको चाटनेके समान सातवेदनीयहै और खड्ग-धारासे जीभके कटनेके समान असातवेदनीय है।

(१) जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषय-सम्बन्धी सुखका अनुभव होता है, वह सातवेदनीय कर्म।

(२) जिस कर्मके उदय से, आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से अथवा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है, वह असातवेदनीय कर्म.

आत्माको जो अपने स्वरूप के सुखका अनुभव होता है, वह किसी भी कर्म के उदय से नहीं. मधु-लिप्त-खड्ग-धाराका दृष्टान्त देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिक सुख-अर्थात् पौद्गलिक सुख, दुःख से मिला हुआ ही है।

"चार गतियों में सात-असात का स्वरूप, मोहनीय कर्म का स्वरूप और उसके दो भेद"।

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ॥ १३ ॥

(ओसन्नं) प्रायः (सुरमणुए) देवों और मनुष्यों में (सायं) सात-वेदनीय कर्म का उदय होता है. (तिरियनरएसु)

तिर्यञ्चों और नारकों में (तु) तो प्रायः (असायं) असात वेदनीय कर्म का उदय होता है. (मोहणीयं) मोहनीय कर्म, (मज्जंव) मद्य के सदृश है; और वह (दंसणचरणमोहा) दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय को लेकर (दुविहं) दो प्रकार का है ॥ १३ ॥

भावार्थ—देवों और मनुष्यों को प्रायः सातवेदनीय का उदय रहता है।

प्रायः-शब्द से यह सूचित किया जाता है कि उनको असात वेदनीय का भी उदय हुआ करता है, परन्तु कम. देवोंको अपनी देव-गति से च्युत होने के समय; अपनी ऋद्धि की अपेक्षा दूसरे देवों की विशाल ऋद्धि को देखने से जब ईर्ष्या का प्रादुर्भाव होता है तब; तथा और और समयों में भी असातवेदनीय का उदय हुआ करता है. इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भवास, स्त्री-पुत्र वियोग, शीत-उष्ण आदिसे दुःख हुआ करता है।

तिर्यञ्च जीवों तथा नारक जीवों को प्रायः असातवेदनीय का उदय हुआ करता है. प्रायः शब्द से सूचित किया गया है कि उनको सातवेदनीय का भी उदय हुआ करता है, परन्तु कम. तिर्यञ्चों में कई हाथी-घोड़े-कुत्ते आदि जीवों का आदर के साथ पालन-पोषण किया जाता है- इसी प्रकार नारक जीवों को भी तीर्थङ्करों के जन्म आदि कल्याणकों के समय सुखका अनुभव हुआ करता है।

सांसारिक सुखका देवों को विशेष अनुभव होता है और मनुष्यों को उनसे कम. दुःख का विशेष अनुभव, नारक तथा निगोद के जीवों को होता है उनकी अपेक्षा तिर्यञ्चों को कम।

चौथा कर्म मोहनीय है. उसका स्वभाव मद्य के समान है. जिस प्रकार मद्य के नशे में मनुष्य को अपने हित-अहित की

पहिचान नहीं रहती; उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा को अपने हित-अहितके पहिचानने की बुद्धि नहीं होती. कदाचित् अपने हित-अहित की परीक्षा कर सके, तौभी वह जीव, मोहनीय कर्म के प्रभाव से तदनुसार आचरण नहीं कर सकता।

मोहनीय के दो भेद हैं:— १ दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय।

(१) दर्शन-मोहनीय—जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना, यह दर्शन है—अर्थात् तत्वार्थ-श्रद्धा को दर्शन कहते हैं, यह आत्मा का गुण है; इस के घात करने वाले कर्म को दर्शन मोहनीय कहते हैं।

सामान्य- उपयोग-रूप दर्शन, इस दर्शन से जुदा है।

(२) चारित्र मोहनीय—जिस के द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूप को पाता है उसे चारित्र कहते हैं, यहभी आत्मा का गुण है; इस के घात करने वाले कर्म को चारित्र- मोहनीय कहते हैं।

"दर्शन मोहनीय के तीन भेद"

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो॥ १४॥

(दंसणमोहं) दर्शनमोहनीय कर्म, (तिविहं) तीन प्रकार का है, (सम्मं) १ सम्यक्त्वमोहनीय, (मीसं) २ मिश्रमोहनीय (तहेव) उसी प्रकार (मिच्छत्तं) ३ मिथ्यात्वमोहनीय. (तं) वह तीन प्रकार का कर्म, (कमसो) क्रमशः (सुद्धं) शुद्ध, (अद्धविसुद्धं) अर्द्ध-विशुद्ध और (अविसुद्धं) अविशुद्ध (हवइ) होता है॥ १४॥

भावार्थ—दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं— १ सम्यक्त्व-मोहनीय, २ मिश्रमोहनीय और ३ मिथ्यात्वमोहनीय. सम्यक्त्व-मोहनीय के दलिक शुद्ध हैं; मिश्रमोहनीय के अर्ध-विशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीय के अशुद्ध।

(१) कोदों (कोद्रव) एक प्रकार का अन्न है जिस के खाने से नशा होता है. परन्तु उस अन्न का भूसा निकाला जाय और छाछ आदि से शोधा जाय तो, वह नशा नहीं करता उसी प्रकार जीव को, हित-अहित-परीक्षा में विकल करने वाले मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल हैं, उनमें सर्वघाती रस होता है. द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस, सर्वघाती हैं. जीव, अपने विशुद्ध परिणाम के बल से उन पुद्गलों के सर्वघाती रस को अर्थात् शक्ति को घटा देता है, सिर्फ एक स्थानक रस बच जाता है. इन एक स्थानक रस वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलों को ही सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं. यह कर्म शुद्ध होनेके कारण, तत्व-रुचि-रूप सम्यक्त्व में बाधा नहीं पहुँचाता परन्तु इसके उदयसे आत्म-स्वभाव-रूप औपशमिक-सम्यक्त्व तथा क्षायिक-सम्यक्त्व होने नहीं पाता और सूक्ष्म पदार्थों के विचारने में शंकायें हुआ करती हैं, जिस से कि सम्यक्त्व में मलिनता आजाती है, इसी दोष के कारण यह कर्म सम्यक्त्व-मोहनीय कहलाता है।

(२) कुछ भाग शुद्ध, और कुछ भाग अशुद्ध ऐसे कोदों के समान मिश्र-मोहनीय है. इस कर्म के उदय से जीव को तत्व-रुचि नहीं होने पाती और अतत्त्व-रुचि भी नहीं होती. मिश्र-मोहनीय का दूसरा नाम सम्यक्-मिथ्यात्व-मोहनीय है, इन कर्मपुद्गलों में द्विस्थानक रस होता है।

(३) सर्वथा अशुद्ध कोदों के समान मिथ्यात्व मोहनीय है, इस कर्म के उदय से जीव को हित में अहित-बुद्धि और अहित

में हित-बुद्धि होती है अर्थात् हित को अहित समझता है और अहित को हित. इन कर्म-पुद्गलों में चतुःस्थानक, त्रि-स्थानक, और द्विस्थानक रस होता है।

$\frac{1}{4}$ को चतुःस्थानक $\frac{1}{3}$ को त्रि-स्थानक और $\frac{1}{2}$ को द्विस्थानक रस कहते हैं जो रस-सहज है अर्थात् स्वाभाविक है; उसे एक स्थानक कहते हैं।

इस विषय को समझने के लिये नींव का अथवा ईख का एक सेर रस लिया; इसे एक स्थानक रस कहेंगे; नींव के इस स्वाभाविक रस को कटु, और ईख के रस को मधुर कहना चाहिये. उक्त एक सेर रस को आग के द्वारा कढ़ाकर आधा जला दिया, बचे हुए आधे रस को द्विस्थानक रस कहते हैं; यह रस, स्वाभाविक कटु और मधुर रसकी अपेक्षा, कटुकतर और मधुर तर कहा जायगा. एक सेर रस के दो हिस्से जला दिये जांय तो बचे हुए एक हिस्से को त्रिस्थानक रस कहते हैं; यह रस नींव का हुआ तो कटुकतम और ईख का हुआ तो मधुरतम कह लावेगा. एक सेर रस के तीन हिस्से जला दिये जाँय तो बचे हुए पावभर रस को चतुः स्थानक कहते हैं, यह रस नींव का हुआ तो अतिकटुकतम और ईख का हुआ तो अतिमधुरतम कहा जायगा. इस प्रकार शुभ अशुभ फल देने की कर्म की तीव्र तम शक्ति को चतुःस्थानक, तीव्रतर शक्ति को त्रिस्थानक, तीव्र शक्ति को द्विस्थानक और मन्दशक्ति को एक स्थानक रस समझना चाहिये।

"सम्यक्त्व मोहनीय का स्वरूप"

जियअजियपुण्णपावासवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा
जेणं सद्दहइ तयं सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥ १५ ॥

(जेणं) जिस कर्म से (जियअजियपुण्णपावासवसं

चरवंधमुक्खनिज्जरणा) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वन्ध, मोक्ष और निर्जरा इन नव तत्त्वों पर जीव (सद्दहइ) श्रद्धा करता है, (तयं) वह (सम्मं) सम्यक्त्व मोहनीय है. उसके (खइगाय वहुभेयं) क्षायिक आदि बहुत से भेद हैं ॥१५॥

भावार्थ—जिस कर्म के वल से जीव को जीवादि नव तत्त्वों पर श्रद्धा होती है, उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं. जिस प्रकार चश्मा, आखों का आच्छादक होने परभी देखने में रुकावट नहीं पहुँचाता उसी प्रकार सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म, आवरण-स्वरूप होने पर भी शुद्ध होने के कारण, जीव की तत्त्वार्थ-श्रद्धा का विघात नहीं करता ; इसी अभिप्राय से ऊपर कहा गया है कि, ' इसी कर्म से जीव को नव-तत्त्वों पर श्रद्धा होती है ' ।

सम्यक्त्व के कई भेद हैं। किसी अपेक्षा से सम्यक्त्व दो प्रकार का है:—व्यवहारसम्यक्त्व और निश्चयसम्यक्त्व. कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्याग कर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग का स्वीकार करना, व्यवहार सम्यक्त्व है. आत्मा का वह परिणाम, जिसके कि होने से ज्ञान विशुद्ध होता है, निश्चय सम्यक्त्व है।

[१] क्षायिक-सम्यक्त्व—मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय—इन तीन प्रकृतियों के क्षय होने पर आत्मा में जो परिणाम-विशेष होता है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

[२] औपशमिक-सम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय की ऊपर कही हुई तीन प्रकृतियों के उपशम से, आत्मा में जो परिणाम होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं । यह सम्यक्त्व ग्यारहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को होता है। अथवा,

जिस जीवने अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें मिथ्यात्व-मोहनीय के तीन पुञ्ज किये हैं, और मिथ्यात्व-पुञ्जका क्षय नहीं किया है, उस जीवको यह औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्तहोता है।

(३) क्षायोपशमिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके क्षय तथा उपशमसे, और सम्यक्त्व मोहनीय कर्मके उदयसे, आत्मामें जो परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं. उदय में आये हुये मिथ्यात्व के पुद्गलों का क्षय तथा जिन का उदय नहीं प्राप्त हुआ है उन पुद्गलों का उपशम, इस तरह मिथ्यात्वमोहनीय का क्षयोपशम होता है. यहाँ पर जो यह कहा गया है कि मिथ्यात्व का उदय होता है, वह प्रदेशोदय समझना चाहिये, न कि रसोदय. औपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का रसोदय और प्रदेशोदय—दोनों प्रकारका उदय नहीं होता. प्रदेशोदय को ही उदयाभावी क्षय कहते हैं. जिसके उदयसे आत्मा पर कुछ असर नहीं होती वह प्रदेशोदय. तथा जिसका उदय आत्मा पर असर जमाता है, वह रसोदय।

(४) वेदक-सम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में वर्तमान जीव, जब सम्यक्त्वमोहनीय के अन्तिम पुद्गल के रस का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। वेदक सम्यक्त्व के बाद, उसे क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

(५) सास्वादन-सम्यक्त्व—उपशम-सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव, जब तक मिथ्यात्व को नहीं प्राप्त करता, तब तक के उस के परिणाम-विशेष को सास्वादन अथवा सासादन सम्यक्त्व कहते हैं।

इसी प्रकार जिनोक्त क्रियाओं को—देववंदन, गुरुवंदन, सामायिक प्रतिक्रमण आदि को करना कारक सम्यक्त्व; उनमें

रुचि रखने को रोचक सम्यक्त्व और उनसे होने वाले लाभों का सभाओं में समर्थन करना दीपक सम्यक्त्व, इत्यादि सम्यक्त्व के कई भेद हैं।

अब नवतत्त्वों का संक्षेप से स्वरूप कहते हैं:—

(१) जीव—जो प्राणों को धारण करे, वह जीव. प्राण के दो भेद हैं:—द्रव्य प्राण और भाव प्राण. पांच इन्द्रियां, तीन बल, श्वासोच्छवास और आयु—ये दस, द्रव्य प्राण हैं। ज्ञान दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों को भाव प्राण कहते हैं। मुक्त जीवों में भाव प्राण होते हैं। संसारी जीवों में द्रव्य प्राण और भाव प्राण दोनों होते हैं। जीव तत्त्व के चौदह भेद हैं।

(२) अजीव—जिसमें प्राण न हो—अर्थात् जड़ हो, वह अजीव। पुद्गल, धर्मास्तिकाय, आकाश आदि अजीव हैं-अजीव तत्त्व के भी चौदह भेद हैं।

(३) पुण्य—जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, वह द्रव्य-पुण्य; और, जीव के शुभ परिणाम—दान, दया आदि भाव पुण्य हैं। पुण्य तत्त्व के बयालीस भेद हैं।

(४) पाप—जिस कर्म के उदय से जीव, दुःख का अनुभव करता है, वह द्रव्य पाप. और जीव का अशुभ परिणाम भाव-पाप है. पाप-तत्त्वके बयासी भेद हैं।

(५) आस्रव—कर्मों के आने का द्वार, जो जीवक शुभ-अशुभ परिणाम है, वह भावास्रव. और शुभ-अशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभ-अशुभ परिणामों से स्वयं उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों को द्रव्यास्रव कहते हैं. आस्रव तत्व के बयालीस भेद हैं।

(६) संवर—आते हुये नये कर्मों को रोकनेवाला आत्मा का परिणाम, भाव संवर; और, कर्म-पुद्गलकी रुकावट को द्रव्य संवर कहते हैं. संवर तत्त्वके सत्तावन भेद हैं।

(७) बन्ध—कर्म-पुद्गलों का जीव-प्रदेशों के साथ, दूध पानी की तरह आपस में मिलना, द्रव्यबन्ध. द्रव्य-बन्ध को उत्पन्न करने वाले अथवा द्रव्यबन्ध से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम, भावबन्ध हैं. बन्ध के चार भेद हैं।

(८) मोक्ष—सम्पूर्ण कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से जुदा होजाना द्रव्य मोक्ष. द्रव्य-मोक्ष के जनक अथवा द्रव्य-मोक्ष-जन्य आत्मा के विशुद्ध परिणाम भावमोक्ष. मोक्षके नव भेद हैं।

[९] निर्जरा—कर्मों का एक देश आत्म प्रदेशों से जुदा होता है, वह द्रव्य निर्जरा. द्रव्य निर्जरा के जनक अथवा द्रव्य-निर्जरा-जन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम, भाव निर्जरा. निर्जरा के बारह भेद हैं।

"मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीयका स्वरूप"

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहु जहा अन्ने।
नालियरदीवमणुणो मिच्छं जिणधम्मविवरीयं।१६।

(जहा) जिस प्रकार (नालियरदीवमणुणो) नालिकेर द्वीप के मनुष्यको (अन्ने) अन्नमें (रागदोसो) राग और द्वेष (न) नहीं होता, उसी प्रकार (मीसा) मिश्र मोहनीय कर्मके उदयसे जीवको (जिणधम्मे) जैन धर्म में राग-द्वेष नहीं होता. इस कर्मका उद-य-काल (अंतमुहु) अन्तर्मुहूर्तका है. (मिच्छं) मिथ्यात्वमोह-नीय कर्म (जिणधम्मविवरीयं) जैन-धर्मसे विपरीत है ॥ १६॥

भावार्थ—जिस द्वीपमें खानेके लिये सिर्फ नारियल ही होते हैं, उसे नालिकेर द्वीप कहते हैं. वहाँ के मनुष्योंने न अन्नको देखा है, न उसके विषयमे कुछ सुनाही है अतएव उनको अन्नमें रुचि नहीं होती, और न द्वेष ही होता है. इसी प्रकार जब मिश्रमोहनीय कर्मका उदय रहता है तब जीवको जैन धर्ममें प्रीति नहीं होती और अप्रीति भी नहीं होती—अर्थात् श्रीवीतरागने जो धर्म कहा है, वही सच्चा है, इस प्रकार एकान्त श्रद्धारूप प्रेम नहीं होता; और वह धर्म झूठा है, अविश्वसनीय है, इस प्रकार अरुचि-रूप द्वेष भी नहीं होता. मिश्रमोहनीय का उदयकाल अन्तर्मुहूर्त का है।

जिस प्रकार रोगी को पथ्य चीजें अच्छी नहीं लगतीं और कुपथ्य चीज़ें अच्छी लगतीं हैं; उसी प्रकार मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का जब उदय होता है तब जीव को जैनधर्म पर द्वेष तथा उससे विरुद्ध धर्म में राग होता है।

मिथ्यात्व के दस भेदों को संक्षेप से लिखते हैं।

१—जिनको कांचन और कामिनी नहीं लुभा सकती, जिन को सांसारिक लोगों की तारीफ खुश नहीं करती, ऐसे साधुओं को साधु न समझना.

२—जो कांचन और कामिनी के दास बने हुये हैं, जिन को सांसारिक लोगों से प्रशंसा पाने की दिन रात इच्छा बनी रहती है ऐसे साधु-वेश-धारियों को साधु समझना और मानना।

३—क्षमा मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—ये धर्मके दस भेद हैं, इनको अधर्म समझना.

४ —जिन कृत्योंसे या विचारोंसे आत्मा की अधोगति होती है, वह अधर्म, जैसे कि,—हिंसा करना, शराब पीना, जुआ खेलना, दूसरोंकी बुराई सोचना इत्यादि, इनको धर्म समझना.

५ —शरीर, इन्द्रिय, मन—ये जड़ हैं, इनको आत्मा समझना—अर्थात् अजीवको जीव मानना.

६—जीवको अजीव मानना, जैसे कि; गाय, बैल, बकरी. मुर्गी आदि प्राणियों में आत्मा नहीं है अतएव इनके खानेमें कोई दोष नहीं ऐसा समझना.

७—उन्मार्गको सुमार्ग समझना, अर्थात् जो पुरानी या नई कुरीतियाँ हैं, जिनसे सचमुच हानि ही होती है, वह उन्मार्ग, उसको सुमार्ग समझना।

८—सुमार्ग को उन्मार्ग समझना– अर्थात् जिन पुराने या नये रिवाजों से धर्म की वृद्धि होती है, वह सुमार्ग, उस को कुमार्ग समझना।

९—कर्म-रहित को कर्म-सहित मानना।

राग और द्वेष, कर्म के सम्बन्ध से होते हैं. परमेश्वर में राग-द्वेष नहीं है तथापि यह समझना कि भगवान् अपने भक्तों की रक्षा के लिये दैत्यों का नाश करते हैं. अमुक स्त्रियों की तपस्या से प्रसन्न हो, उनके पति बनते हैं इत्यादि।

१०—कर्म-सहितको कर्म-रहित मानना।

भक्तोंकी रक्षा और शत्रुओंका नाश करना, राग द्वेषके सिवा हो नहीं सकता, और राग-द्वेप, कर्म-सम्बन्धके विना हो नहीं सकते, तथापि उन्हें कर्मरहित मानना, यह कहना कि, भगवान् सब कुछ करते हैं तथापि अलिप्त हैं.

"चारित्रमोहनीयकी उत्तरप्रकृतियाँ"

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

(चरित्त मोहणियं) चारित्र मोहनीय कर्म, (दुविहं) दो प्रकार का है:— (सोलस कसाय) सोलह कषाय और (नवनोकसाय) नव नोकषाय.

(अण) अनन्तानुबन्धी, (अप्पच्चक्खाणा) अप्रत्याख्यानावरण, (पच्चक्खाणा) प्रत्याख्यानावरण (य) और (संजलणा) सञ्ज्वलन, इनके चार चार भेद होनेसे सब कषायोंकी संख्या, सोलह होती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—चारित्रमोहनीयके दो भेद हैं,- कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय. कषायमोहनीयके सोलह भेद हैं, और नोकषाय मोहनीयके नव. इस गाथामें कषायमोहनीयके भेद कहे गये हैं, नोकषायमोहनीयका वर्णन आगे आवेगा.

कषाय—कषका अर्थ है जन्म-मरण-रूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं.

नोकषाय—कषायोंके उदयके साथ जिनका उदय होता है, वे नोकषाय, अथवा कषायोंको उभाड़ने वाले-उत्तेजित करने वाले हास्य आदि नवको नोकषाय कहते हैं. इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है।

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥

क्रोधके साथ हास्यका उदय रहता है, कभी हास्य आदि क्रोध को उभारते हैं..इसी प्रकार अन्य कषायों के साथ नोकषाय का सम्बन्ध समझना चाहिये. कषायों के साहचर्य से ही नोकषायों में प्रधानता है, केवल नोकषायों में प्रधानता नहीं है।

१–अनन्तानुबन्धी—जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करता है उस कषाय को अनन्तानुबन्धी कहते हैं इस कषाय के चार भेद हैं:– १ अनन्तानुबन्धी क्रोध, २ अनन्तानुबन्धी मान, ३ अनन्तानुबन्धी माया और ४ अनन्तानुबन्धी लोभ. अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यक्त्व का घात करता है।

[२] अप्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय केउदय से देशविरति-रूप अल्प प्रत्याख्यान नहीं होता, उसे अप्रत्याख्यान वरण कषाय कहते हैं. तात्पर्य यह है कि इस कषाय के उदय से श्रावक-धर्मकी भी प्राप्ति नहीं होती. इस कषाय के चार भेद हैं. १ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, २ अप्रत्याख्यानावरण मान, ३ अप्रत्याख्यानावरण माया और ४ अप्रत्याख्यानावरण लोभ.

[३] प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से सर्व-विरति-रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है—अर्थात् साधु-धर्मकी प्राप्ति नहीं होती, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं. यह कषाय, देशविरति-रूप श्रावकधर्म में बाधा नहीं पहुँचाता. इसके चार भेद हैं:— १ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, २ प्रत्याख्यानावरण मान, ३ प्रत्याख्यानावरण माया, और ४ प्रत्याख्यानावरण लोभ.

[४] 'सञ्ज्वलन—जो कषाय, परीषह तथा उपसर्गों के आजाने पर यतियों को भी थोड़ासा जलावे–अर्थात् उन पर

थोडासा असर जमावे, उसे सञ्ज्वलन कषाय कहते हैं. यह कषाय, सर्व-विरति-रूप साधु-धर्म में बाधा नहीं पहुँचाता किन्तु सबसे ऊँचे यथाख्यात चारित्र में बाधा पहुँचाता है-अर्थात् उसे होने नहीं देता. इसके भी चार भेद हैं:— १ सञ्ज्वलन क्रोध २ सञ्ज्वलन मान, ३ सञ्ज्वलन माया और ४ सञ्ज्वलन लोभ,

---

" मन्द-बुद्धियों को समझाने के लिये चार प्रकार के कषायों का स्वरूप कहते हैं "

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नरअमरा । सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्त घायकरा ॥ १८ ॥

उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार कषाय क्रमशः ।

(जाजीव वरिस चउमास पक्खगा) यावत् जीव, वर्ष, चतुर्मास और पक्षतक रहते हैं और वे (नरयतिरियनरअमरा) नरक-गति, तिर्यञ्च-गति, मनुष्य-गति तथा देव-गतिके कारण हैं, और (सम्माणु सव्व विरई अहखाय चरित्त घायकरा) सम्यक्त्व, अणु विरति, सर्व विरति तथा यथाख्यात चारित्रका घात करते हैं॥१८॥

भावार्थ [१] अनन्तानुबन्धी कषाय वे हैं, जो जीवन पर्यन्त बने रहें, जिनसे नरक-गति-योग्य कर्मों का बन्ध हो और सम्यग्दर्शन का घात होता हो ।

[२] अप्रत्याख्यानावरणकषाय, एक वर्ष तक बने रहते हैं, उनके उदय से तिर्यञ्च-गति-योग्य कर्मोंका बन्ध होताहै और देश-विरति-रूप चारित्र होने नहीं पाता ।

[३] प्रत्याख्यानावरण कषायों की स्थिति चार महीने की है, उनके उदय से मनुष्य-गति-योग्य कर्मों का बन्ध होता है

और सर्व-विरातिरूप चारित्र नहीं होने पाता।

[४] सञ्ज्वलन कषाय, एक पक्ष तक रहते हैं, उनके उदय से देव-गति-योग्य कर्मों का वन्ध होता है और यथाख्यात चारित्र नहीं होने पाता।

कषायों के विषय में ऊपर जो कहा गया है, वह व्यवहार नय को लेकर; क्योंकि बाहुबलि आदि को सञ्ज्वलन कषाय एकवर्ष तक था, तथा प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय अन्तर्मुहूर्त तक था. इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहते हुये भी कुछ मिथ्यादृष्टियों की नवग्रैवेयक में उत्पत्ति का वर्णन शास्त्र में मिलता है।

" दृष्टान्तके द्वारा क्रोध और मानका स्वरूप "

जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥ १९ ॥

(जलरेणुपुढविपव्वयराइसरिसो) जल-राजि, रेणुराजि, पृथिवी-राजि और पर्वत-राजिके सदृश (कोहो) क्रोध (चउव्विहो) चार प्रकारका है. (तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो) तिनिस-लता, काष्ठ, अस्थि और शैल-स्तम्भके सदृश (माणो) मान चार प्रकारका है ॥ १७ ॥

भावार्थ—क्रोधके चार भेद पहले कह चुके हैं, उनका हर एकका स्वरूप दृष्टान्तोंके द्वारा समझाते हैं.

[१] सञ्ज्वलन क्रोध—पानीमें लकीर खींचनेसे जैसे वह जल्द मिट जाती है, उसी प्रकार, किसी कारण से उदय में

आया हुआ क्रोध, शीघ्र ही शान्त हो जावे, उसे सञ्ज्वलन क्रोध कहते हैं. ऐसा क्रोध प्रायः साधुओंको होता है.

[२] प्रत्याख्यानावरण क्रोध—धूलि में लकीर खींचने पर, कुछ समयमें हवासे वह लकीर भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध, कुछ उपायसे शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध.

[३] अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-सूखे तालाब आदि में मिट्टीके फट जाने से दरार हो जाती है, जब वर्षा होती है तब वह फिरसे मिलती है, उसी प्रकार जो क्रोध, विशेष परिश्रमसे शान्त होता है, वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध.

[४] अनन्तानुबन्धी क्रोध—पर्वत के फटने पर जो दरार होती है उसका मिलना कठिन है, उसी प्रकार जो क्रोध किसी उपायसे शान्त नहीं होता, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध.

अब दृष्टान्तोंके द्वारा चार प्रकारका मान कहा जाता है.

[१] सञ्ज्वलन मान—बेतको विना मेहनत नमाया जा सकता है, उसी प्रकार, मानका उदय होने पर, जो जीव अपने आग्रहको छोड़ कर शीघ्र नम जाता है, उसके मानको सञ्ज्वलन मान कहते हैं.

[२] प्रत्याख्यानावरण मान—सूखा काठ तेल वगैरहकी मालिश करने पर नमता है, उसी प्रकार जिस जीवका अभिमान, उपायोंके द्वारा मुश्किल से दूर किया जाय, उसके मानको प्रत्याख्यानावरण मान कहते हैं,

(३) अप्रत्याख्यानावरण मान-हड्डी को नमाने के लिये बहुत से उपाय करने पड़ते हैं और बहुत मेहनत उठानी

पड़ती है; उसी प्रकार जो मान, बहुत से उपायों से और अति परिश्रम से दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण मान।

(४) **अनन्तानुबन्धी मान**—चाहे जितने उपाय किये जांय तोभी पत्थर का खंभा जैसे नहीं नमता; उसी प्रकार जो मान कभी भी दूर नहीं किया जा सके, वह अनन्तानुबन्धी मान।

" दृष्टान्तों के द्वारा माया और लोभ का स्वरूप कहते हैं "

मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो २०।

(अवलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा) अवलेखिका, गोमूत्रिका, मेषशृंग और घनवंशी-मूल के समान (माया) माया, चार प्रकार की है- (हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो) हरिद्रा, खंजन, कर्दम और कृमिराग के समान (लोहो) लोभ, चार प्रकार का है ॥ २० ॥

भावार्थ--माया का अर्थ है कपट, स्वभाव का टेढ़ापन, मन में कुछ और, और, बोलना या करना कुछ और. इस के चार भेद हैं।

(१) **संज्वलनी माया**--बांस का छिलका टेढ़ा होता है, पर विना मेहनत वह हाथ से सीधा किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया, विना परिश्रम दूर हो सके, उसे संज्वलनी माया कहते हैं।

(२) **प्रत्याख्यानी माया**—चलता हुआ बैल जब मूतता है, उसके मूत्र की टेढ़ी लकीर ज़मीन पर मालूम होने लगती

है, वह टेढ़ापन हवा से धूलि के गिरने पर नहीं मालूम देता; उसी प्रकार जिस का कुटिल स्वभाव, कठिनाई से दूर हो सके, उसकी माया को प्रत्याख्यानी माया कहते हैं।

(३) अप्रत्याख्यानी माया—भेड़ के सींग का टेढ़ापन बड़ी मुश्किल से अनेक उपायों के द्वारा दूर किया जा सकता है; उसी प्रकार जो माया, अत्यन्त परिश्रम से दूर की जासके, उसे अप्रत्याख्यानावरणी माया कहते हैं।

(४) अनन्तानुबन्धिनी माया—कठिन बांसकी जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार जो माया, किसी प्रकार दूर न हो सके, उसे अनन्तानुबन्धिनी माया कहते हैं।

धन, कुटुंब, शरीर आदि पदार्थों में जो ममता होती है, उसे लोभ कहते हैं, इसके चार भेद हैं, जिन्हें दृष्टान्तों के द्वारा दिखलाते हैं।

(१) संज्वलन लोभ-सञ्ज्वलन लोभ, हल्दी के रंग के सदृश है, जो सहज ही में छूटता है।

(२) प्रत्याख्यानावरण लोभ—प्रत्याख्यानावरण लोभ, दीपक के कज्जल के सदृश है, जो कष्ट से छूटता है।

(३) अप्रत्याख्यानावरण लोभ--अप्रत्याख्यानावरण लोभ, गाड़ी के पहिये के कीचड़ के सदृश है, जो अति कष्ट से छूटता है।

(४) अनन्तानुबन्धी लोभ-अनन्तानुबन्धी लोभ, किरमिजी रंग के सदृश है, जो किसी उपाय से नहीं छूट सकता।

" नोकषाय मोहनीय के हास्य आदि छह भेद "

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा । सनिमित्तमन्नहावा तं इह हासाइ मोह-णियं ॥ २२ ॥

(जस्सुदया) जिस कर्मके उदयसे (जिए) जीवमें-अर्थात् जीवको (हास) हास्य, (रई) रति. (अरइ) अरति, (सोग) शोक, (भय) भय और (कुच्छा) जुगुप्सा (सनिमित्तं) कारण वश (वा) अथवा (अन्नहा) अन्यथा-विना कारण (होइ) होती है, (तं) वह कर्म (इह) इस शास्त्र में (हासाइ मोहणीयं) हास्य आदि मोहनीय कहा जाता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—सोलह कषायों का वर्णन पहले हो चुका. नव नोकषाय बाक़ी हैं, उनमें से छह नोकषायों का स्वरूप इस गाथा के द्वारा कहा जाता है, बाक़ी के तीन नोकषायों को अगली गाथा से कहेंगे. छह नोकषायो के नाम और उनका स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) **हास्य मोहनीय**-जिस कर्म के उदय से कारण-वश-अर्थात् भांड़ आदिकी चेष्टा को देखकर अथवा विना कारण हँसी आती है, वह हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है ।

यहां यह संशय होता है कि, विना कारण हँसी किस प्रकार आवेगी ! उसका समाधान यह है कि तात्कालिक बाह्य कारण की अविद्यमानता में मानासिक विचारों के द्वारा जो हँसी आती है वह विना कारण की है. तात्पर्य यह है कि तात्कालिक बाह्य

पदार्थ हास्य आदिमे निमित्त हों तो सकारण, और सिर्फ मानसिक विचार ही निमित्त हों तो अकारण, ऐसा विवक्षित है।

(२) रति-मोहनीय—जिस कर्मके उदयसे कारणवश अथवा विना कारण पदार्थों में अनुराग हो—प्रेम हो, वह रति मोहनीय कर्म.

(३) अरतिमोहनीय—जिस कर्मके उदयसे कारण वश अथवा विना कारण पदार्थों से अप्रीति हो—उद्वेग हो, वह अरतिमोहनीय कर्म.

(४) शोकमोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारण वश अथवा विना कारण शोक हो, वह शोक मोहनीय कर्म.

(५) भयमोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारण वश अथवा विना कारण भय हो, वह भयमोहनीय कर्म.

भय सात प्रकारका है:—१ इहलोक भय-जो दुष्ट मनुष्यों को तथा वलवानों को देख कर होता है. २ परलोक भय-मृत्यु होनेके वाद कौनसी गति मिलेगी, इस वात को लेकर डरना. ३ आदान भय—चोर, डाकू आदि से होता है. ४ अकस्मात् भय—बिजली आदि से होता है. ५ आजीविका भय—जीवन निर्वाह के विषय में होता है. ६ मृत्यु भय- मृत्यु से डरना और ७ अपयश भय—अपकीर्तिसे डरना।

(६) जुगुप्सा मोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारण वश अथवा विना कारण, मांसादि वीभत्स पदार्थों को देखकर घृणा होती है, वह जुगुप्सा मोहनीय कर्म।

" नोकषाय मोहनीय के अन्तिम तीन भेद "

पुरिसित्थितदुभयंपइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ । थीनरनपुवेउदओ फुंफुमतणनगर दाहसमो ॥ २२ ॥

(जव्वसा) जिसके वश से—जिसके प्रभाव से (पुरिसित्थितदुभयं पइ) पुरुष के प्रति, स्त्री के प्रति तथा स्त्री-पुरुष दोनों के प्रति (अहिलासो) अभिलाष—मैथुन की इच्छा (हवइ) होती है, (सो) वह क्रमशः (थी नरनपुवेउदओ) स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेदका उदय है. इन तीनों वेदोंका स्वरूप (फुंफुमतणनगरदाहसमो) करीषाग्नि, तृणाग्नि और नगर-दाहके समान है ॥ २२ ॥

भावार्थ—नोकषाय मोहनीय के अन्तिम तीन भेदोंके नाम १ स्त्रीवेद २ पुरुषवेद और ३ नपुंसकवेद हैं.

(१) **स्त्रीवेद**—जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुषके साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह स्त्रीवेद कर्म.

अभिलाषा में दृष्टान्त करीषाग्नि है. करीष सूखे गोबर को कहते हैं, उसकी आग, जैसी जैसी चलाई जाय वैसीही वैसी बढ़ती है उसी प्रकार पुरुष के कर-स्पर्शादि व्यापार से स्त्री की अभिलाषा बढ़ती है.

(२) **पुरुषवेद**—जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा होती है, वह पुरुषवेद कर्म.

अभिलाषा में दृष्टान्त तृणाग्नि है. तृणका अग्नि शीघ्र जलती और शीघ्रही बुझती है; उसी प्रकार पुरुष को अभिलाषा शीघ्र होती है और स्त्री-सेवन के वाद शीघ्र शान्त होती है. .

(३) नपुंसकवेद—जिस कर्मके उदय से स्त्री, पुरुष-दोनों के साथ भोग करनेकी इच्छा होती है, वह नपुंसकवेद कर्म.

अभिलाषा में दृष्टान्त, नगर-दाह है. शहर में आग लगे तो वहुत दिनों में शहर को जलाती है और उस आगके बुझने में भी वहुत दिन लगते हैं, उसी प्रकार नपुंसकवेद के उदय से उत्पन्न हुई अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती और विषय-सेवन से तृप्ति भी नहीं होती. मोहनीय कर्मका व्याख्यान समाप्त हुआ।

" मोहनीय कर्मके अट्ठाईस भेद कह चुके, अव आयु कर्म और नाम कर्मके स्वरूपको और भेदोंको कहते हैं "

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं नामकम्मचित्तिसमं । वायालतिनवइविहं तिउत्तरसयंच सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

(सुरनरतिरिनरयाऊ) सुरायु, नरायु, तिर्यञ्चायु और नरकायु इस प्रकार आयु कर्मके चार भेद हैं आयु कर्मका स्वभाव (हडिसरिसं) हडि-के समान है और (नाम कम्म) नाम कर्म (चित्तिसमँ) चित्री-चित्रकार-चितेरेके समान है. वह नाम कर्म (वायालतिनवइविहं) वयालीस प्रकारका, तिरानवे प्रकारका (च) और (तिउत्तरसयंसत्तट्ठी) एकसौ तीन प्रकारका है ॥ २३ ॥

भावार्थ-आयु कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं:-१ देवायु, २ मनुष्यायु, ३ तिर्यञ्चायु और ४ नरकायु. आयु कर्मका स्वभाव कारागृह (जेल) के समान है . जैसे, न्यायधीश अपराधीको उसके अपराधके अनुसार अमुक काल तक जेलमें डालता है और अपराधी चाहता भी है कि मैं जेलसे निकल जाऊं परन्तु अवधि पूरी हुये विना नहीं निकल सकता; वैसे ही आयुकर्म जब तक बना रहता है तवतक आत्मा स्थूल-शरीर को नहीं त्याग सकता, जब आयु कर्मको पूरी तौर से भोग लेता है तभी वह शरीर को छोड़ देता है. नारक जीव, नरक भूमिमें इतने अधिक दुखी रहते हैं कि, वे वहाँ जीनेकी अपेक्षा मरना ही पसन्द करते हैं परन्तु आयु कर्मके अस्तित्व से-अधिक काल तक भोगने योग्य आयु कर्मके बने रहने से-उनकी मरनेकी इच्छा पूर्ण नहीं होती।

उन देवों और मनुष्यों को-जिन्हें कि विषयभोग के साधन प्राप्त हैं, जीने की प्रबल इच्छा रहते हुये भी, आयु कर्म के पूर्ण होते ही परलोक सिधारना पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है उसे आयु कहते हैं। आयु कर्म दो प्रकार का है एक अपवर्त्तनीय और दूसरा अनपवर्तनीय।

अपवर्त्तनीय—वाह्यनिमित्तों से जो आयु कम हो जाती है, उस आयु को अपवर्तनीय अथवा अपवर्त्य आयु कहते हैं, तात्पर्य यह है कि जल में डूबने, आग में जलने, शस्त्र की चोट पहुँचने अथवा ज़हर खाने आदि बाह्य कारणों से शेष आयु को, जोकि पच्चीस पचास आदि वर्षों तक भोगने योग्य है, अन्तर्मुहूर्त में भोग लेना, यही आयु का अपवर्तन है, अर्थात् इस प्रकार की

आयु को अपवर्त्य आयु कहते हैं, इसी आयु का दूसरा नाम जो कि दुनियां में प्रचलित है "अकालमृत्यु" है।

अनपवर्त्तनीय–जो आयु किसी भी कारण से कम न हो सके, अर्थात् जितने काल तक की पहले बान्धी गई है उतने काल तक भोगी जावे उस आयु को अनपवर्त्य आयु कहते हैं।

देव, नारक, चरमशरीरी–अर्थात् उसी शरीर से जो मोक्ष जाने वाले हैं वे, उत्तमपुरुष–अर्थात् तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि और जिन की आयु असंख्यात वर्षों की है ऐसे मनुष्य और तिर्यञ्च– इनकी आयु अनपवर्तनीय ही होती है, इन से इतर जीवों की आयु का नियम नहीं है, किसी जीव की अपवर्तनीय और किसी की अनपवर्तनीय होती है।

नाम कर्म चित्रकार के समान है; जैसे चित्रकार नाना भांति के मनुष्य, हाथी, घोड़े आदि को चित्रित करता है; ऐसे ही नाम कर्म नाना भांति के देव, मनुष्य, नारकों की रचना करता है।

नाम कर्म की संख्या कई प्रकार से कही गई है; किसी अपेक्षा से उस के बयालीस ४२ भेद हैं, किसी अपेक्षा से तिरानवे ६३ भेद हैं, किसी अपेक्षा से एक सौ तीन १०३ भेद हैं, और किसी अपेक्षा से सड़सठ ६७ भेद भी हैं।

"नाम कर्म के ४२ भेदों को कहने के लिये १४ पिण्डप्रकृतियों को कहते हैं"

गइजाइतणुउवंगा बंधणसंघायणाणिसंघयणा।
संठाणवण्णगंधरसफासअणुपुव्विविहगगई २४॥

(गइ) गति, (जाइ) जाति, (तणु) तनु, उवंगा) उपाङ्ग, (बंधण) बन्धन, (संघायणाणि) संघातन, (संघयणा) संहनन,

(संठाण) संस्थान, (वण्ण) वर्ण, (गंध) गन्ध, (रस) रस, (फास) स्पर्श, (अणुपुव्वि) आनुंपूर्वी, और (विहगगइ) विहायोगति, ये चौदह पिण्डप्रकृतियाँ हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ-नामकर्मकी जो पिण्ड-प्रकृतियाँ हैं, उनके चौदह भेद हैं. प्रत्येकके साथ नाम शब्द को जोड़ देना चाहिये, जैसे कि गति के साथ नाम शब्द को जोड़ देनेसे गतिनाम, इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के साथ नाम शब्द को जोड़ देना चाहिये. पिण्ड प्रकृतिका अर्थ पच्चीसवीं गाथामें कहेंगे ।

(१) गतिनाम-जिस कर्मके उदयसे जीव, देव नारक आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता है उसे गति नाम कर्म कहते हैं ।

(२) जातिनाम-जिस कर्मके उदयसे जीव, एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि कहा जाय, उसे जाति नाम कर्म कहते हैं ।

(३) तनुनाम-जिस कर्मके उदय से जीव को औदारिक, वैक्रिय आदि शरीरों की प्राप्ति हो उसे तनुनाम कर्म कहते हैं. इस कर्म को शरीरनाम भी कहते हैं ।

(४) अङ्गोपाङ्गनाम--जिस कर्मके उदय से जीवके अङ्ग (सिर, पैर आदि) और उपाङ्ग (उंगली कपोल, आदि) के आकारमें पुद्गलोंका परिणमन होता है, उसे अङ्गोपाङ्गनाम कर्म कहते हैं ।

(५) बन्धननाम-जिस कर्म के उदय से, प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिक आदि शरीरपुद्गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध हो, उसे बन्धन नाम कर्म कहते हैं ।

(६) सङ्घातननाम-जिस कर्म के उदय से शरीर-योग्य पुद्गल, प्रथम ग्रहण किये हुये शरीर-पुद्गलों पर व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे सङ्घातन नाम कर्म कहते हैं।

(७) संहनननाम-जिस कर्म के उदय से, शरीर में हाड़ोंकी सन्धियाँ (जोड़) दृढ़ होती हैं, जैसे कि लोहेके पट्टियोंसे किवाड़ मज़बूत किये जाते हैं, उसे संहनन नाम कर्म कहते हैं।

(८) संस्थाननाम-जिसके उदय से, शरीर के जुदे जुदे शुभ या अशुभ आकार होते हैं, उसे संस्थाननाम कर्म कहते हैं।

(९) वर्णनाम-जिस के उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि रङ्ग होते हैं, उसे वर्ण नाम कर्म कहते हैं।

(१०) गन्धनाम-जिसके उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गन्ध हो उसे गन्ध नाम कर्म कहते हैं।

(११) रसनाम-जिसके उदय से शरीर में खट्टे, मीठे आदि रसों की उत्पत्ति होती है उसे रस नाम कर्म कहते हैं।

(१२) स्पर्शनाम—जिसके उदय से शरीरमें कोमल, रूक्ष आदि स्पर्श हों, उसे स्पर्श नाम कर्म कहते हैं.

(१३) आनुपूर्वीनाम—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है, उसे आनपूर्वी नाम कर्म कहते हैं.

आनुपूर्वी नाम कर्म के लिये नाथ (नासा रज्जु) का दृष्टान्त दिया गया है जैसे इधर उधर भटकते हुये बैलको नाथके द्वारा

जहां चाहते हैं, ले जाते हैं, उसी प्रकार जीव जब समश्रेणी से जाने लगता है, तब आनुपूर्वी कर्म, उसे जहां उत्पन्न होना हो, वहां पहुँचा देता है.

(१४) विहायोगति—जिस कर्मके उदय से जीवकी चाल (चलना), हाथी या बैलकी चाल के समान शुभ अथवा ऊंट या गधे की चालके समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति नाम कर्म कहते हैं.

प्रश्न—विहायस् आकाश को कहते हैं वह सर्वत्र व्याप्त है उसको छोड़कर अन्यत्र गति होही नहीं सकती फिर विहायस् गति का विशेषण क्यों !

उत्तर—विहायस् विशेषण न रखकर सिर्फ़ गति कहेंगे तो नाम कर्म की प्रथम प्रकृति का नाम भी गति होने के कारण पुनरुक्त-दोषकी शङ्का हो जाती इस लिये विहायस् विशेषण दिया गया है, जिससे जीवकी चालके अर्थ में गति शब्द को समझा जाय नकि देवगति, नारक गति आदिके अर्थ में.

"प्रत्येक प्रकृतिके आठ भेद"

पिंडपयडित्ति चउदस परघाउस्सासआयवुज्जोयं । अगुरुलहुतित्थनिमिणोवघायमियअट्ठ पत्तेया ॥ २५ ॥

(पिंडपयडित्ति चउदस) इस प्रकार पूर्व गाथा में कही हुई प्रकृतियां, पिण्डप्रकृतियां कहलाती हैं और इनकी संख्या चौदह है. (परघा) पराघात, (उस्सास) उच्छ्‌वास, (आय-

वुज्जोयं) आतप, उद्योत, (अगुरु लहु) अगुरु लघु, (तित्थ) तीर्थङ्कर, (निमिण) निर्माण, और (उवघायं) उपघात (इय) इस प्रकार (अट्ठ) आठ (पत्तेया) प्रत्येक प्रकृतियाँ हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ–" पिंडपयडित्ति चउदस " इस वाक्य का सम्बन्ध चौवीसवीं गाथा के साथ है, उक्त गाथा में कही हुई गति, जाति आदि चौदह प्रकृतियों को पिंडप्रकृति कहने का मतलब यह है कि उन में से हर एक के भेद हैं; जैसे कि, गति नाम के चारभेद, जाति नाम के पाँच भेद इत्यादि. पिंडित का–अर्थात् समुदायका ग्रहण होने से पिंडप्रकृति कही जाती है।

प्रत्येकप्रकृतिके आठ भेद हैं, उन के हर एक के साथ नाम शब्द को जोड़ना चाहिये; जैसे कि पराघात नाम, उच्छ्वास नाम आदि. प्रत्येक का मतलब एक एक से है–अर्थात् इन आठों प्रकृतियों के हर एक के भेद नहीं है इस लिये ये प्रकृतियाँ, प्रत्येक प्रकृति, शब्द से कही जाती हैं. उनके नाम इस प्रकार हैं;– (१) पराघात नाम कर्म, (२) उच्छ्वास नाम कर्म, (३) आतप नाम कर्म (४) उद्योत नाम कर्म, (५) अगुरुलघु नाम कर्म, (६) तीर्थङ्कर नाम कर्म, (७) निर्माण नाम कर्म और (८) उपघात नाम कर्म, इन प्रकृतियों का अर्थ यहाँ इसलिये नहीं कहा गया कि, खुद ग्रन्थ कार ही आगे कहने वाले हैं।

" त्रश दशक शब्द से जो प्रकृतियाँ ली जाती हैं उनको इस गाथामें कहते हैं. "

तसबायरपज्जत्तं पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च । सुस-राइज्जजसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥ २६ ॥

(तस) त्रस, (बायर) बादर, (पज्जत्तं) पर्याप्त, (थिर)

स्थिर, (सुभं) शुभ, (च) और (सुभग) सुभग, (सुसराइज्ज) सुस्वर, आदेय और (जसं) यशःकीर्ति, ये प्रकृतियाँ (तस दसगं) (त्रस-दशक कही जाती हैं. (थावरदसंतु) स्थावर-दशक तो (इमं) यह है-जो कि आगे की गाथामें कहेंगे ॥ २६ ॥

भावार्थ-यहाँ भी प्रत्येकप्रकृति के साथ नाम शब्द को जोड़ना चाहिये; जैसे कि त्रसनाम, बादरनाम आदि. त्रस से लेकर यशःकीर्ति तक गिनती में दस प्रकृतियाँ हैं, इस लिये ये प्रकृतियाँ त्रस-दशक कही जाती हैं, इसी प्रकार स्थावर-दशक को भी समझना चाहिये, जिसे कि आगे की गाथा में कहने वाले हैं. त्रस दशक की प्रकृतियों के नाम;-(१) त्रस नाम, (२) बादर नाम, (३) पर्याप्त नाम, (४) प्रत्येक नाम (५) स्थिर नाम, (६) शुभ नाम, (७) सुभग नाम, (८) सुस्वर नाम (९) आदेय नाम और (१०) अयशःकीर्ति नाम, इन प्रकृतियों का स्वरूप भी आगे कहा जायगा.

" स्थावर-दशक शब्द से जो प्रकृतियां ली जाती है, उन को इस गाथा में कहते हैं "

थावरसुहुमअपज्जं साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सरणाइज्जाजसमियनामे सेयरा वीसं ॥ २७ ॥

(थावर) स्थावर, (सुहुम) सूक्ष्म, (अपज्जं) अपर्याप्त, (साहारण) साधारण, (अथिर) अस्थिर, (असुभ) अशुभ, (दुभगाणिं) दुर्भग, (दुस्सरणाइज्जाजसं) दुःस्वर, अनादेय और अयशः कीर्ति, (इय) इस प्रकार (नाम) नाम कर्म में (सेयरा) इतर अर्थात् त्रसदशक के साथ स्थावर-दशक को मिलाने से (वीसं) वीस प्रकृतियाँ होती हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—त्रस-दशक में जितनी प्रकृतियाँ हैं उनकी विरोधिनी प्रकृतियाँ स्थावर-दशक में हैं; जैसे कि त्रसनाम से विपरीत स्थावरनाम, बादरनाम से विपरीत सूक्ष्मनाम, पर्याप्तनाम का प्रतिपक्षी अपर्याप्तनाम, इसी प्रकार शेष प्रकृतियों में भी समझना चाहिये. त्रस-दशक की गिनती पुण्य-प्रकृतियों में और स्थावर-दशक की गिनती पाप-प्रकृतियों में हैं. इन बीस प्रकृतियों को भी प्रत्येक-प्रकृति कहते हैं अत एव पच्चीसवीं गाथामें कही हुई आठ प्रकृतियों को इनके साथ मिलानेसे अट्ठाईस प्रकृतियाँ, प्रत्येक प्रकृतियाँ हुईं. नाम शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध पूर्ववत् समझना चाहिये जैसे कि:—

(१) स्थावर नाम, (२) सूक्ष्म नाम, (३) अपर्याप्त नाम, (४) साधारण नाम, (५) अस्थिर नाम, (६) अशुभ नाम, (७) दुर्भग नाम, (८) दुःस्वर नाम, (९) अनादेय नाम और (१०) अयशः कीर्ति नाम.

" ग्रन्थ-लाघव के अर्थ, अनन्तरोक्त त्रस आदि बीस प्रकृतियों के अन्दर, कतिपय संज्ञाओं (परिभाषा, सङ्केत) को दो गाथाओं से कहते हैं. "

तसचउथिरछक्कंअथिरछक्कसुहुमतिगथावरचउक्कं । सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहि पयडीहिं ॥ २८ ॥

(तसचऊ) त्रसचतुष्क, (थिरछक्कं) स्थिरषट्क, (अथिरछक्कं) अस्थिरषट्क (सुहुमतिग) सूक्ष्मत्रिक, (थावरचउक्कं) स्थावरचतुष्क, (सुभगतिगाइविभासा) सुभग-त्रिक आदि विभाषाएँ करलेनी चाहिये, सङ्केत करने की रीति यह है कि

(तदाइ संखाहि पयडीहिं) सङ्ख्याकी आदि में जिस प्रकृति का निर्देश किया गया हो, उस प्रकृति से निर्दिष्ट सङ्ख्या की पूर्णता तक, जितनी प्रकृतियाँ मिलें, लेना चाहिये ॥ २८ ॥

भावार्थ—संकेत करने से शास्त्र का विस्तार नहीं बढ़ता इसलिये संकेत करना आवश्यक है. संकेत, विभाषा, परिभाषा, संज्ञा, ये शब्द समानार्थक हैं. यहाँ पर संकेत की पद्धति ग्रन्थकार ने यों बतलाई है;- जिस संख्या के पहले, जिस प्रकृतिका निर्देश किया हो उस प्रकृति को, जिस प्रकृति पर संख्या पूर्ण हो जाय उस प्रकृति को तथा बीच की प्रकृतियों को, उक्त संकेतों से लेना चाहिये; जैसेः—

त्रस-चतुष्क—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम और (४) प्रत्येकनाम—ये चार प्रकृतियाँ "त्रसचतुष्क" इस संकेत से ली गईं. ऐसे ही आगे भी समझना चाहिये.

स्थिरषट्क—(१) स्थिरनाम, (२) शुभनाम, (३) सुभगनाम, (४) सुस्वरनाम, (५) आदेयनाम, और (६) यशःकीर्तिनाम.

अस्थिरषट्क—(१) अस्थिरनाम, (२) अशुभनाम, (३) दुर्भगनाम, (४) दुःस्वरनाम, (५) अनादेयनाम और (६) अयशः-कीर्तिनाम.

स्थावर-चतुष्क-(१) स्थावरनाम, (२) सूक्ष्मनाम, (३) अपर्याप्तनाम और (४) साधारणनाम.

सुभग-त्रिक—(१) सुभगनाम, (२) सुस्वरनाम और (३) आदेयनाम.

गाथा में आदि शब्द है इसलिये दुर्भग-त्रिक का भी संग्रह कर लेना चाहिये.

दुर्भग-त्रिक—(१) दुर्भग, (२) दुःस्वर और (३) अनादेय.

वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्कमिच्चाई। इय अन्नावि विभासा, तयाइ संखाहि पयडीहिं ॥ २९ ॥

(वण्ण चउ) वर्णचतुष्क, (अगुरु लहु चउ) अगुरुलघु-चतुष्क, (तसाइ दुति चउर छक्क मिच्चाइ) त्रस-द्विक, त्रस-त्रिक, त्रस-चतुष्क, त्रसषट्क इत्यादि (इय) इस प्रकार (अन्नावि विभासा) अन्य विभाषाएँ भी समझनी चाहिये, (तयाइ संखाहि पयडीहिं) तदादिसङ्ख्यकप्रकृतियों के द्वारा ॥ २९ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गाथा में कुछ सङ्केत दिखलाये गये, उसी प्रकार इस गाथा के द्वारा भी कुछ दिखलाए जाते हैं:-

वर्णचतुष्क—(१) वर्णनाम, (२) गन्धनाम, (३) रसनाम और (४) स्पर्शनाम-ये चार प्रकृतियाँ वर्णचतुष्क इस संकेत से ली जाती हैं. इस प्रकार आगे भी समझना चाहिये.

अगुरुलघु-चतुष्क—(१) अगुरुलघुनाम, (२) उपघात-नाम, (३) पराघातनाम और (४) उच्छ्वासनाम.

त्रस-द्विक—(१) त्रसनाम और (२) बादरनाम.

त्रस-त्रिक—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, और (३) पर्याप्तनाम.

त्रसचतुष्क—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम और (४) प्रत्येकनाम.

त्रसषट्क—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम, (५) स्थिरनाम और (६) शुभनाम.

इनसे अन्य भी संकेत हैं जैसे कि;—

स्त्यानर्द्धि-त्रिक—(१) स्त्यानर्द्धि, (२) निद्रानिद्रा और (३) प्रचलाप्रचला.

तेवीसवीं गाथा में कहा गया था कि नामकर्म की सङ्ख्याएँ जुदी जुदी अपेक्षाओं से जुदी जुदी हैं अर्थात् उस के बयालीस ४२ भेद भी हैं, और तिरानवे ९३ भेद भी हैं इत्यादि. बयालीस भेद अब तक कहे गये उन्हें यों समझना चाहियेः— चौदह १४ पिण्ड-प्रकृतियाँ चौवीसवीं गाथा में कही गईं; आठ ८ प्रत्येक-प्रकृतियाँ, पच्चीसवीं गाथा में कही गईं; त्रस-दशक और स्थावरदशक की बीस प्रकृतियाँ क्रमशः छब्बीसवीं और सत्ताईसवीं गाथा में कही गईं इन सबको मिलाने से नाम कर्म की बयालीस प्रकृतियाँ हुईं.

" नामकर्मके बयालीस भेद कह चुके, अब उसी के तिरानवे भेदों को कहने के लिये चौदह पिण्ड-प्रकृतियों की उत्तर-प्रकृतियाँ कही जाती हैं. „

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपण पंचछच्छक्कं।
पणदुगपणट्ठचउदुग इयउत्तरभेयपणसट्ठी ॥ ३० ॥

(गइयाइण) गति आदि के (उ) तो (कमसो) क्रमशः (चउ) चार, (पण) पांच, (पण) पांच, (छ) छह, (छक्कं) छह, (पण) पांच, (दुग) दो, (पणट्ठ) पांच, आठ, (चउ) चार, और

(दुग) दो, (इय) इस प्रकार (उत्तरभेयपणसट्ठी) पैंसठ उत्तरभेद हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—चौबीसवीं गाथा में चौदह पिण्डप्रकृतियों के नाम कहे गये हैं, इस गाथा में उनके हर एक के उत्तर-भेदों की सङ्ख्या को कहते हैं; जैसे कि, (१) गतिनामकर्म के चार भेद, (२) जातिनामकर्म के पाँच भेद, (३) तनु (शरीर) नामकर्म के पाँच भेद, (४) उपाङ्गनामकर्म के तीन भेद, (५) बन्धननामकर्म के पाँच भेद, (६) संघातननामकर्म के पाँच भेद, (७) संहनननामकर्म के छह भेद, (८) संस्थाननामकर्म के छह भेद, (९) वर्णनामकर्म के पाँच भेद, (१०) गन्धनामकर्म के दो भेद, (११) रसनामकर्म के पाँच भेद, (१२) स्पर्शनामकर्म के आठ भेद, (१३) आनुपूर्वीनामकर्म के चार भेद, (१४) विहायोगतिनामकर्म के दो भेद, इस प्रकार उत्तर-भेदों की कुल सङ्ख्या पैंसठ ६५ होती है।

" नामकर्म की ९३, १०३ और ६७ प्रकृतियाँ किस तरह होती हैं, सो दिखलाते हैं "

अडवीस-जुया तिनवइ संते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्न वरणचउ ॥३१॥

(अडवीसजुया) अट्ठाइस प्रत्येक प्रकृतियों को पैंसठ प्रकृतियों में जोड़ देने से (संते) सत्ता में (तिनवइ) तिरानवे ९३ भेद होते हैं. (वा) अथवा इन तिरानवे प्रकृतियों में (पनरबंधणे) पन्द्रह बंधनों के वस्तुतः दस बंधनों के जोड़ देने से (संते) सत्ता में (तिसयं) एकसौ तीन प्रकृतियाँ होती हैं, (तणूसु) शरीरों में अर्थात् शरीर के ग्रहण से (बंधणसंघायगहो) बंधनों और संघा-

तनों का ग्रहण हो जाता है, और इसी प्रकार (सामन्नवन्नचउ) सामान्य रूप से वर्ण-चतुष्क का भी ग्रहण होता है ॥ ३१ ॥

भावार्थ-पूर्वोक्त गाथा में चौदह पिण्ड-प्रकृतियों की संख्या, पैंसठ कही गई है; उनमें अट्ठाईस प्रत्येक प्रकृतियाँ-अर्थात् आठ ८ पराघात आदि दस त्रस आदि, और दस स्थावर आदि, जोड़ दिये जाँय तो नामकर्म की तिरानवे ६३ प्रकृतियाँ सत्ता की अपेक्षा से समझना चाहिये. इन तिरानवे प्रकृतियों में, बंधन-नाम के पाँच भेद, जोड़ दिये गये हैं, परन्तु किसी अपेक्षा से बंधननाम के पन्द्रह भेद भी होते हैं, ये सब, तिरानवे प्रकृतियों में जोड़ दिये जाँय तो नामकर्म के एकसौ तीन भेद होंगे-अर्थात् बंधननाम के पन्द्रह भेदों में से पाँच भेद जोड़ देने पर तिरानवे भेद कह चुके हैं, अब सिर्फ बन्धननाम के शेष दस भेद जोड़ना बाकी रह गया था, सो इनके जोड़ देने से ६३+१०=१०३ नाम-कर्म के भेद सत्ता की अपेक्षा हुये. नामकर्म की ६७ प्रकृतियाँ इस प्रकार समझना चाहियेः- बन्धननाम के १५ भेद और संघा-तननाम के पाँच भेद, ये बीस प्रकृतियाँ, शरीरनाम के पाँच भेदों में शामिल की जाँय, इसी तरह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार प्रकृतियों की बीस उत्तर-प्रकृतियों को चार प्रकृतियों में शामिल किया जाय, इस प्रकार वर्ण आदि की सोलह तथा बन्धन-संघातन की बीस, दोनों को मिलाने से छत्तीस प्रकृतियाँ हुई. नामकर्म की एकसौ तीन प्रकृतियों में से छत्तीस को घटा देने से ६७ प्रकृतियाँ रहीं.

औदारिक आदि शरीर के सदृश ही औदारिक आदि बन्धन तथा औदारिक आदि संघातन है इसी लिये बन्धनों और संघा-तनों का शरीरनाम में अन्तर्भाव कर दिया गया. वर्ण की पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ हैं इसी प्रकार गन्ध की दो, रस की पाँच और

स्पर्श की आठ उत्तर-प्रकृतियाँ हैं. साजात्य को लेकर विशेष भेदों की विवक्षा नहीं की किन्तु सामान्य-रूप से एक एक ही प्रकृति ली गई।

"बन्ध आदि की अपेक्षा कर्म-प्रकृतियों की जुदी२ संख्याएं"

इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए वीसदुवीसट्ठवन्नसयं ॥ ३२ ॥

(इय) इस प्रकार (सत्तट्ठी) ६७ प्रकृतियाँ (बंधोदए) बन्ध, उदय और (य) च- अर्थात् उदीरणा की अपेक्षा समझना चाहिये. (सम्ममीसया) सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय (बंधे) बन्ध में (न य) न च-नैव-नहीं लिये जाते, (बंधुदए सत्ताए) बन्ध, उदय और सत्ता की अपेक्षा क्रमशः (वीस दुवीसट्ठवन्नसयं) एकसौ वीस, एकसौ बाईस और एकसौ अट्ठावन कर्मप्रकृतियाँ ली जाती हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ-इस गाथा में बन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता की अपेक्षा से कुल कर्म-प्रकृतियों की जुदी जुदी संख्याएँ कही गई हैं।

एकसौ वीस १२० कर्म-प्रकृतियाँ बन्ध की अधिकारिणी हैं, सो इस प्रकार;- नामकर्मकी ६७, ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयुकी ४, गोत्र की २ और अन्तराय की ५ सबको मिलाकर १२० कर्मप्रकृतियाँ हुईं.

यद्यपि मोहनीयकर्म के २८ भेद हैं परन्तु बन्ध २६ का ही होता है, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय, इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, जिस मिथ्यात्वमोहनीय का बन्ध होता है,

उस के कुछ पुद्गलों को जीव अपने सम्यक्त्वगुण से अत्यन्तशुद्ध कर देता है और कुछ पुद्गलों को अर्द्ध-शुद्ध करता है. अत्यन्त-शुद्ध-पुद्गल, सम्यक्त्वमोहनीय और अर्द्ध-शुद्धपुद्गल मिथ्यात्वमोहनीय कहलाते हैं.

तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहनीय की दो प्रकृतियों को-सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को कम कर देने से शेष १२० प्रकृतियाँ बन्ध-योग्य हुईं.

अब इन्हीं बन्ध-योग्य प्रकृतियों में—जो मोहनीय की दो प्रकृतियाँ घटा दी गई थीं उनको-मिला देने से एकसौ बाईस १२२ कर्म-प्रकृतियाँ, उदय तथा उदीरणा की अधिकारीणी हुईं. क्योंकि अन्दान्य प्रकृतियों के समान ही सम्यक्त्वमोहनीय तथा मिश्र-मोहनीय की उदय-उदीरणा हुआ करती है.

एकसौ अट्ठावन १५८ अथवा एकसौ अड़तालीस १४८ प्रकृतियाँ सत्ता की अधिकारिणी हैं, सो इस प्रकार-ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयुकी ४ नाम-कर्मकी १०३, गोत्र की २ और अन्तराय की ५ सब मिलाकर १५८ हुईं. इस सङ्ख्या में बन्धन नाम के १५ भेद मिलाए गये हैं, यदि १५ के स्थान में ५ भेद ही बन्धन के समझे जाँय तो १५८ में से १० के घटा देने पर सत्तायोग्य प्रकृतियों की सङ्ख्या १४८ होगी.

" चौबीसवीं गाथा में चौदह पिण्ड-प्रकृतियाँ कही गई हैं; अब उनके उत्तर-भेद कहे जायँगे, पहले तीन पिण्ड-प्रकृतियों के-गति, जाति तथा शरीरनाम के उत्तर-भेदों को इस गाथा में कहते हैं. "

निरयतिरिनरसुरगई इगवियतियचउपणिं-दिजाईओ । ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मणपण सरीरा ॥ ३३ ॥

(निरयतिरिनरसुरगई) नरक-गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतिनामकर्म के भेद हैं. (इगबियतियचउपणिंदिजाईओ) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय ये जातिनाम के पाँच भेद हैं.

(ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मणपणसरीरा) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण, ये पाँच, शरीरनाम के भेद हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थ—गतिनामकर्म के चार भेद.

(१) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिस से "यह नारक-जीव है" ऐसा कहा जाय, उस कर्म को नरक-गतिनामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख " यह तिर्यञ्च है " ऐसा कहा जाय उस कर्म को तिर्यञ्चगतिनामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख " यह मनुष्य है " ऐसा कहा जाय, उस कर्म को मनुष्यगतिनामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख "यह देव है" ऐसा कहा जाय उस कर्म को देवगतिनामकर्म कहते हैं।

जातिनामकर्म के पाँच भेद।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव को सिर्फ एक इन्द्रिय—त्वगिन्द्रिय की प्राप्ति हो उसे एकेन्द्रियजातिनामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को दो इन्द्रियाँ—त्वचा और जीभ—प्राप्त हों, वह द्वीन्द्रियजातिनामकर्म.

(३) जिस कर्म के उदय से तीन इन्द्रियाँ—त्वचा, जीभ और नाक—प्राप्त हों, वह त्रीन्द्रियजातिनामकर्म.

(४) जिस कर्म के उदय से चार इन्द्रियाँ—त्वचा, जीभ, नाक और आँख—प्राप्त हों वह चतुरिन्द्रियजातिनाम.

(५) जिस कर्म के उदय से पाँच इन्द्रियाँ—त्वचा, जीभ, नाक, आँख और कान—प्राप्त हों, वह पञ्चेन्द्रियजातिनाम.

शरीरनाम के पाँच भेद।

(१) उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूलपुद्गलोंसे बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है, जिस कर्म से ऐसा शरीर मिले उसे औदारिकशरीरनामकर्म कहते हैं.

तीर्थङ्कर और गणधरों का शरीर, प्रधानपुद्गलों से बनता है और सर्वसाधारण का शरीर स्थूल, असारपुद्गलों से बनता है. मनुष्य और तिर्यञ्च को औदारिकशरीर प्राप्त होता है।

(२) जिस शरीर से विविध क्रियाएँ होती हैं, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो, उसे वैक्रियशरीरनामकर्म कहते हैं।

विविध क्रियाएँ ये हैं:—एक स्वरूप धारण करना, अनेक स्वरूप धारण करना; छोटा शरीर धारण करना; बड़ा शरीर धारण करना; आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, भूमि पर चलने योग्य शरीर धारण करना; दृश्य शरीर धारण करना, अदृश्य शरीर धारण करना, इत्यादि अनेक प्रकार की अवस्थाओं को वैक्रियशरीरधारी जीव कर सकता है।

वैक्रियशरीर दो प्रकार का है;-(१) औपपातिक और (२) लब्धिप्रत्यय.

देव और नारकों का शरीर औपपातिक कहलाता है अर्थात् उनको जन्म से ही वैक्रियशरीर मिलता है. लब्धिप्रत्ययशरीर, तिर्यञ्च और मनुष्यों को होता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च, तप आदि के द्वारा प्राप्त किये हुये शक्ति-विशेष से वैक्रियशरीर धारण कर लेते हैं.

(३) चतुर्दशपूर्वधारी मुनि अन्य (महाविदेह) क्षेत्र में वर्तमान तीर्थङ्कर से अपना संदेह निवारण करने के लिये अथवा उनका ऐश्वर्य देखने के लिये जब उक्त क्षेत्रको जाना चाहते हैं तब लब्धिविशेष से एक हाथ प्रमाण अतिविशुद्धस्फटिक के समान निर्मल जो शरीर धारण करते हैं, उस शरीर को आहारकशरीर कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो उसे आहारकशरीरनामकर्म कहते हैं.

(४) तेजःपुद्गलों से बना हुआ शरीर तैजस कहलाता है, इस शरीर की उष्णता से खाये हुये अन्नका पाचन होता है. और कोई कोई तपस्वी जो क्रोध से तेजोलेश्या के द्वारा औरों को नुकसान पहुँचाता है तथा प्रसन्न होकर शीतलेश्या के द्वारा फायदा पहुँचाता है सो इसी तैजःशरीर के प्रभाव से समझना चाहिये. अर्थात् आहार के पाक का हेतु तथा तेजोलेश्या और शीतलेश्या के निर्गमन का हेतु जो शरीर, वह तैजस शरीर कहलाता है, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है उसे तैजसशरीरनामकर्म कहते हैं.

(५) कर्मों का बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है, जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुये आठ प्रकार के कर्म-पुद्गलों को कार्मण-शरीर कहते हैं. यह कार्मणशरीर, सब शरीरों का बीज है, इसी शरीर से जीव अपने मरण-देश को छोड़ कर उत्पत्तिस्थान को

जाता है. जिस कर्म से कार्मणशरीर की प्राप्ति हो, उसे कार्मण-शरीरनामकर्म कहते हैं।

समस्तसंसारी जीवों को तैजसशरीर, और कार्मणशरीर, ये दो शरीर अवश्य होते हैं।

" उपाङ्गनामकर्म के तीन भेद "

वाहूरुपिट्ठिसिरउरउयरंगउवंगअंगुलीपमुहा ।
सेसा अंगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥

(वाहुरु) भुजा, जँघा, (पिट्ठि) पीठ, (सिर) सिर, (उर) छाती और (उयरंग) पेट, ये अङ्ग हैं. (अंगुली पमुहा) उँगली आदि (उवंग) उपाङ्ग हैं. (सेसा) शेष (अंगोवंगा) अङ्गोपाङ्ग हैं, (पढमतणुतिगस्सुवंगाणि) ये अङ्ग, उपाङ्ग, और अङ्गोपाङ्ग प्रथम के तीन शरीरों में ही होते हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—पिण्डप्रकृतियों में चौथा उपाङ्गनामकर्म है. उपाङ्ग शब्द से तीन वस्तुओं का—अङ्ग, उपाङ्ग और अङ्गोपाङ्ग का ग्रहण होता है. ये तीनों—अङ्गादि, औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में ही होते हैं; अन्त के तैजस और कार्मण इन दो शरीरों में नहीं होते क्योंकि इन दोनों का कोई संस्थान अर्थात् आकार नहीं होता; अङ्गोपाङ्ग आदि के लिये किसी न किसी आकृति की आवश्यकता है, सो प्रथम के तीन शरीरों में ही पाई जाती है.

अङ्ग के आठ भेद हैं—दो भुजाएं, दो जंघाएं, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट.

अङ्ग के साथ जुड़े हुए छोटे अवयवों को उपाङ्ग कहते हैं जैसे, उंगली आदि।

अङ्गुलियों की रेखाओं तथा पर्वों आदि को अङ्गोपाङ्ग कहते हैं.

(१) औदारिक शरीर के आकार में परिणतपुद्गलों से अङ्गोपाङ्गरूप अवयव, जिस कर्म के उदय से बनते हैं, उसे औदारिक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म कहते हैं.

(२) जिस कर्म के उदय से, वैक्रियशरीररूप से परिणत-पुद्गलों से अङ्गोपाङ्गरूप अवयव बनते हैं, वह वैक्रियअङ्गोपाङ्ग-नामकर्म.

(३) जिस कर्म के उदय से, आहारकशरीररूप से परिणत-पुद्गलों से अङ्गोपाङ्गरूप अवयव बनते हैं, वह आहारक अङ्गोपाङ्गनामकर्म.

"बन्धननामकर्म के पाँच भेद"

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धबज्झंतयाण संबंधं ।
जं कुणइ जउसमं तं * उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

(जं) जो कर्म (जउसमं) जतु-लाख-के समान (निबद्धबज्झंतयाण) पहले बँधे हुये तथा वर्तमान में बँधनेवाले (उरलाइपुग्गलाणं) औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों का, आपस में (संबंधं) सम्बन्ध (कुणइ) कराता है- परस्पर मिलाता है (तं) उस कर्मको (उरलाइबंधणं) औदारिक आदि बन्धननामकर्म (नेयं) समझना चाहिये ॥ ३५ ॥

भावार्थ-जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजें आपस में जोड़ दी जाती हैं उसी प्रकार बन्धननामकर्म, शरीरनाम के बल से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर-पुद्गलों के

---

* "बंधण मुरलाई तणुनामा" इत्यपि पाठान्तरम् ।

साथ, वर्तमान समय में जिनका ग्रहण हो रहा है ऐसे शरीर-पुद्गलों को बाँध देता है—जोड़ देता है. यदि बन्धननामकर्म न होता तो शरीराकार-परिणतपुद्गलों में उसी प्रकार की अस्थिरता हो जाती, जैसी कि वायु-प्रेरित, कुण्ड-स्थित सक्तु (सत्तु) में होती है.

जो शरीर नये पैदा होते हैं, उनके प्रारम्भ-काल में सर्व-बन्ध होता है, बाद, वे शरीर जब तक धारण किये जाते हैं, देश-बन्ध हुआ करता है. अर्थात्, जो शरीर नवीन नहीं उत्पन्न होते, उनमें, जब तक कि वे रहते हैं, देश-बन्ध ही हुआ करता है.

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में, उत्पत्ति के समय सर्व-बन्ध और बाद देश-बन्ध होता है.

तैजस और कार्मण शरीर की नवीन उत्पत्ति होती नहीं, इस लिये उनमें देश-बन्ध समझना चाहिये.

(१) जिस कर्म के उदय से, पूर्व-गृहीत—प्रथम ग्रहण किये हुये औदारिकपुद्गलों के साथ, गृह्यमाण—वर्तमान समय में जिनका ग्रहण किया जा रहा हो ऐसे—औदारिकपुद्गलों का आपस में मेल हो जावे, उसे औदारिकशरीर-बन्धननामकर्म कहते हैं.

(२) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीतवैक्रियपुद्गलों के साथ गृह्यमाणवैक्रियपुद्गलों का आपस में मेल हो, वह वैक्रियशरीर-बन्धननाम.

(३) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीतआहारकपुद्गलों के साथ गृह्यमाणआहारकपुद्गलों का आपस में सम्बन्ध हो वह आहारकशरीरबन्धननाम.

(४) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीततैजसपुद्गलों के साथ गृह्यमाणतैजसपुद्गलों का परस्पर बन्ध हो, वह तैजसशरीर-बन्धननाम.

(५) जिस कर्म के उदय से पूर्व-गृहीतकार्मणपुद्गलों के साथ, गृह्यमाणकार्मणपुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध हो, वह कार्मणशरीरबन्धननामकर्म.

"बन्धननामकर्म का स्वरूप कह चुके, बिना एकत्रित किये हुये पुद्गलों का आपस में बन्ध नहीं होता इस लिये परस्पर सन्निधान का कारण, सङ्घातननामकर्म कहा जाता है"

जं संघायइ उरलाइ पुग्गले तणगणं व दंताली।
तं संघायं बंधणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥३६॥

(दंताली) दंताली (तणगणंव) तृण-समूह के सदृश (जं) जो कर्म (उरलाइ पुग्गले) औदारिक आदि शरीर के पुद्गलों को (संघायइ) इकट्ठा करता है (तं संघायं) वह संघातननामकर्म है. (बंधणमिव) बन्धननामकर्म की तरह (तणुनामेण) शरीर नाम की अपेक्षा से वह (पंचविहं) पाँच प्रकार का है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—प्रथम ग्रहण किये हुये शरीरपुद्गलों के साथ गृह्यमाणशरीरपुद्गलों का परस्पर बन्ध तभी हो सकता है जब कि उन दोनों प्रकार के—गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो. पुद्गलों को परस्पर सन्निहित करना—एक दूसरे के पास व्यवस्था से स्थापन करना संघातनकर्म का कार्य है. इसमें दृष्टान्त दन्ताली है. जैसे, दन्ताली से इधर उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाती है फिर उस घास का गट्ठा बाँधा जाता है उसी प्रकार सङ्घातननामकर्म, पुद्गलों को सन्निहित करता है और बन्धन नाम, उनको सम्बद्ध करता है.

शरीरनाम की अपेक्षा से जिस प्रकार बन्धननाम के पाँच भेद किये गये उसी प्रकार संघातननाम के भी पाँच भेद हैं:-

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर के रूप में परिणतपुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह औदारिकसंघातननाम-कर्म कहलाता है-

(२) जिस कर्म के उदय से वैक्रियशरीर के रूप में परिणत-पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह वैक्रियसंघातननाम.

(३) जिस कर्म के उदय से आहारकशरीर के रूप में परिणतपुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह आहारकसंघातननाम.

(४) जिस कर्म के उदय से तैजसशरीर के रूप में परिणत-पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह तैजससंघातननाम.

(५) जिस कर्म के उदय से कार्मणशरीर के रूप में परिणत-पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह कार्मणसंघातननाम.

" इकतीसवीं गाथा में ' संतेवा पनरबंधणे तिसयं ' ऐसा कहा है, उसे स्फुट करने के लिये बन्धननाम के पन्द्रह भेद दिखलाते हैं"

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नवबंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

(सगतेयकम्मजुत्ताणं) अपने अपने तैजस तथा कार्मण के साथ संयुक्त ऐसे (ओराल विउव्वाहारयाण) औदारिक, वैक्रिय और आहारक के (नव बंधणाणि) नव बन्धन होते हैं. (इयर दुसहियाणं) इतर दो-तैजस और कार्मण इनके साथ अर्थात् मिश्र के साथ औदारिक, वैक्रिय और आहारक का संयोग होने पर (तिन्नि) तीन बन्धन-प्रकृतियाँ होती हैं. (च) और (तेसिं) उनके अर्थात् तैजस और कार्मण के, स्व तथा इतर से संयोग होने पर, तीन बन्धन-प्रकृतियाँ होती हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—इस गाथा में बन्धननामकर्म के पन्द्रह भेद किस प्रकार होते हैं सो दिखलाते हैं:-

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनों का स्वकीयपुद्गलों से-अर्थात् औदारिक, वैक्रिय और आहारकशरीररूप से परिणतपुद्गलों से, तैजसपुद्गलों से तथा कार्मणपुद्गलों से सम्बन्ध करानेवाले बन्धननामकर्म के नव भेद हैं.

औदारिक, वैक्रिय और आहारक का-हर एक का, तैजस और कार्मण के साथ युगपत् सम्बन्ध करानेवाले बन्धननामकर्म के तीन भेद हैं.

तैजस और कार्मण का स्वकीय तथा इतर से सम्बन्ध करानेवाले बन्धननामकर्म के तीन भेद हैं.

पन्द्रह बन्धननामकर्म के नाम ये हैं:-

(१) औदारिक-औदारिक-बन्धन-नाम. (२) औदारिक-तैजस-बन्धन-नाम. (३) औदारिक-कार्मण-बन्धन-नाम. (४) वैक्रिय-वैक्रिय-बन्धन-नाम. (५) वैक्रिय-तैजसबन्धननाम. (६) वैक्रिय-कार्मण-बन्धन-नाम. (७) आहारक-आहारकबन्धननाम. (८) आहारक-तैजस-बन्धन-नाम. (९) आहारक-कार्मण-बन्धन-नाम. (१०) औदारिक-तैजस-कार्मण-बन्धन-नाम. (११) वैक्रिय-तैजस-कार्मण-बन्धन-नाम. (१२) आहारक-तैजस-कार्मण-बन्धन-नाम. (१३) तैजस-तैजस-बन्धन-नाम. (१४) तैजस-कार्मण-बन्धन-नाम. (१५) कार्मण-कार्मण-बन्धन-नाम.

इनका अर्थ यह है कि:-

(१) जिस कर्म के उदय से, पूर्वगृहीतऔदारिकपुद्गलों के साथ गृह्यमाणऔदारिकपुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है उसे औदारिक-औदारिक-बन्धननाम कर्म कहते हैं.

(२) जिस कर्म के उदय से औदारिक दल का तैजस दल के साथ सम्बन्ध हो उसे औदारिक-तैजस-बन्धननाम कहते हैं.

(३) जिस कर्म के उदय से औदारिक दल का कार्मण दल के साथ सम्बन्ध होता है उसे औदारिक-कार्मण-बन्धननाम कहते हैं.

इसी प्रकार अन्य बन्धननामों का भी अर्थ समझना चाहिये. औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं. इसलिये उन के सम्बन्ध करानेवाले नामकर्म भी नहीं हैं.

" संहनननामकर्म के छह भेद, दो गाथाओं से कहते हैं. "

संघयणमट्ठिनिचओ तं छद्धा वज्जरिसहनारायं ।
तहय रिसहनारायं नारायं अद्धनारायं ॥ ३८ ॥
कीलिअ छेवट्ठं इह रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
उभओ मक्कडबंधो नारायं इममुरालंगे ॥ ३९ ॥

(संघयणमट्ठिनिचओ) हाड़ों की रचनाको संहनन कहते हैं, (तं) वह (छद्धा) छह प्रकार का है:— (वज्जरिसहनारायं) वज्रऋषभनाराच, (तहय) उसी प्रकार (रिसहनारायं) ऋषभनाराच, (नारायं) नाराच, (अद्धनारायं) अर्द्धनाराच, ॥ ३८ ॥

(कीलिअ) कीलिका और (छेवट्ठं) सेवार्त. (इह) इस शास्त्र में (रिसहो पट्टो) ऋषभ का अर्थ, पट्ट है; (य) और (कीलिया वज्जं) वज्र का अर्थ, कीलिका-खीला है; (उभओ मक्कडबंधो नारायं) नाराच का अर्थ, दोनों ओर मर्कट-बन्ध है. (इममुरालंगे) यह संहनन औदारिकशरीर में ही होता है ॥ ३९ ॥

भावार्थ—पिण्डप्रकृतियों का वर्णन चल रहा है उन में से सातवीं प्रकृति का नाम है, संहनननाम. उसके छह भेद हैं.

हाड़ों का आपस में जुड़जाना—मिलना, अर्थात रचना विशेष, जिस नामकर्म के उदय से होता है, उसे 'संहनन-नामकर्म' कहते हैं।

(१) वज्रऋषभनाराच संहननाम—वज्रका अर्थ है खीला, ऋषभ का अर्थ है वेष्टनपट्ट और नाराच का अर्थ है दोनों तरफ मर्कट-बन्ध. मर्कट-बन्ध से बन्धी हुई दो हड्डियों के ऊपर तीसरे, हड्डी का वेठन हो, और तीनों को भेदने वाला हड्डी का खीला जिस संहनन में पाया जाय उसे वज्रऋषभनाराच संहनन कहते हैं, और जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उस कर्म का नाम भी वज्रऋषभनाराच संहनन है।

(२) ऋषभनाराच संहननाम—दोनों तरफ हाड़ों का मर्कट-बन्ध हो, तीसरे, हाड़का वेठन भी हो लेकिन तीनों को भेदने वाला हाड़ का खीला न हो, तो ऋषभ-नाराच संहनन. जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उसे ऋषभनाराचसंहनननामकर्म कहते हैं।

(३) नाराच संहननाम—जिस रचना में दोनों तरफ़ मर्कटबन्ध हो लेकिन वेठन और खीला न हो उसे नाराच संहनन कहते हैं, जिस कर्म से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उसे भी नाराचसंहनननाम कहते हैं।

(४) अर्धनाराच संहननाम—जिस रचना में एक तरफ़ मर्कट-बन्ध हो और दूसरी तरफ़ खीला हो, उसे अर्ध-नाराच संहनन कहते हैं. पूर्ववत् कर्म का भी नाम अर्धनाराच संहनन समझना चाहिये।

(५) कीलिका संहनननाम– जिस रचना में मर्कट-बन्ध और वेठन न हों किन्तु खीले से हड्डियां जुड़ी हों, तो उसे कीलिकासंहनन कहते हैं. पूर्ववत् कर्म का नाम भी वही है।

(६) सेवार्त संहनननाम—जिस रचना में मर्कट-बन्ध, वेठन और खीला न हो कर, यों ही हड्डियां आपस में जुड़ी हों, उसे सेवार्तसंहनन कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसे संहनन की प्राप्ति होती है उस कर्म का नाम भी सेवार्तसंहनन-है।

सेवार्त का दूसरा नाम छेदवृत्त भी है. पूर्वोक्त छह संहनन, औदारिक शरीर में ही होते हैं, अन्य शरीरों में नहीं.

"संस्थाननामकर्म के छह भेद और वर्णनामकर्म के पाँच भेद"

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥ ४० ॥

(समचउरंसं) समचतुरस्र, (निग्गोह) न्यग्रोध, (साइ) सादि, (खुज्जाइ) कुब्ज (वामणं) वामन और (हुंडं) हुण्ड, ये (संठाणा) संस्थान हैं. (किण्ह) कृष्ण, (नील) नील, (लोहिय) लोहित-लाल, (हलिद्द) हारिद्र-पीला, और (सिया) सित-श्वेत, ये (वन्ना) वर्ण हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ-शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं. जिस कर्म के उदय से संस्थान की प्राप्ति होती है उस कर्म को 'संस्थाननाम-कर्म' कहते हैं; इसके छह भेद ये हैं :—

(१) **समचतुरस्र संस्थाननाम**—सम का अर्थ है समान, चतुः का अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण—अर्थात् पलथी मार कर बैठने से जिस शरीर के चार कोण समान हों—अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, दक्षिण स्कन्ध और वाम जानु का अन्तर तथा वाम स्कन्ध और दक्षिण जानु का अन्तर समान हो तो समचतुरस्रसंस्थान समझना चाहिये, अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव शुभ हों उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं. जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उसे समचतुरस्र संस्थाननामकर्म कहते हैं।

(२) **न्यग्रोधपरिमंडल संस्थाननाम**—वड़ के वृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं, उस के समान, जिस शरीर में, नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण हों किन्तु नाभि से नीचे के अवयव हीन हों तो न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान समझना चाहिये. जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उस कर्मका नाम न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थाननामकर्म है।

(३) **सादि संस्थाननाम**—जिस शरीर में नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण और नाभि से ऊपर के अवयव हीन होते हैं उसे सादिसंस्थान कहते हैं. जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे सादिसंस्थाननामकर्म कहते हैं।

(४) **कुब्ज संस्थाननाम**—जिस शरीर के हाथ, पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों, किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हो, उसे कुब्जसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदयसे ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है, उसे कुब्जसंस्थाननामकर्म कहते हैं. लोक में कुब्ज को कुबड़ा कहते हैं।

(५) **वामन संस्थाननाम**—जिस शरीर में हाथ, पैर आदि अवयव हीन-छोटे हों, और छाती पेट आदि पूर्ण हों, उसे वामनसंस्थान कहते हैं. जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे वामनसंस्थाननामकर्म कहते हैं। लोक में वामन को बौना कहते हैं।

(६) **हुण्ड संस्थाननाम**—जिस के समस्त अवयव बेढब हों—प्रमाण-शून्य हों, उसे हुण्डसंस्थान कहते हैं. जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे हुण्डसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

शरीर के रङ्ग को वर्ण कहते हैं. जिस कर्म के उदय से शरीरों में जुदे जुदे रङ्ग होते हैं उसे 'वर्णनामकर्म' कहते हैं. उस के पाँच भेद हैं।

(१) **कृष्ण वर्णनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला हो, वह कृष्ण वर्णनामकर्म।

(२) **नील वर्णनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पंख जैसा हरा हो, वह नील वर्णनामकर्म।

(३) **लोहित वर्णनाम**—जिस कर्म के उदय से जीवका शरीर हिंगुल या सिंदूर जैसा लाल हो, वह लोहित वर्ण-नामकर्म।

(४) **हारिद्र वर्णनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी जैसा पीला हो, वह हारिद्र वर्णनामकर्म

(५) **सित वर्णनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शङ्ख जैसा सफेद हो वह सितवर्णनामकर्म।

" गन्धनामकर्म के दो भेद, रसनामकर्म के पाँच भेद और स्पर्शनामकर्म के आठ भेद कहते हैं "

**सुरहिदुरही रसा पणा तित्तकडुकसायअंबि-
लामहुरा । फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह
सिणिद्धरुक्खट्ठा ॥ ४१ ॥**

(सुरहि) सुरभि और (दुरही) दुरभि दो प्रकार का गन्ध है (तित्त) तिक्त, (कडु) कटु, (कसाय) कषाय, (अंबिला) आम्ल और (महुरा) मधुर, ये (रसा पणा) पाँच रस हैं. (गुरु लघु मिउ खर सी उण्ह सिणिद्ध रुक्खट्ठा) गुरु. लघु, मृदु, खर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष ये आठ (फासा) स्पर्श हैं ॥४१॥

भावार्थ—गन्धनामकर्म के दो भेद हैं सुरभिगन्धनाम और दुरभिगन्धनाम ।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की कपूर कस्तूरी आदि पदार्थों जैसी सुगन्धि होती है, उसे 'सुरभिगन्धनामकर्म' कहते हैं. तीर्थङ्कर आदि के शरीर सुगन्धि होते हैं ।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर की लहसुन या सड़े पदार्थों जैसी गन्ध हो, उसे ' दुरभिगन्धनामकर्म ' कहते हैं

" रसनाम कर्म के पाँच भेद "

तिक्तनाम, कटुनाम, कषायनाम, आम्लनाम और मधुर-नाम ।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, नीम्ब या चिरायते जैसा कडुवा हो, वह 'तिक्तरसनामकर्म' ।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, सोंठ या काली मीर्च जैसा चरपरा हो, वह ' कटुरसनामकर्म ' ।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, आँवला या बहेड़ जैसा कसैला हो, वह 'कषायरसनामकर्म'।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस नीबू या इमली जैसा खट्टा हो वह 'आम्लरसनामकर्म'।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस, ईख जैसा मीठा हो, वह मधुररसनामकर्म।

स्पर्शनामकर्म के आठ भेद।

गुरुनाम, लघुनाम, मृदुनाम, खरनाम, शीतनाम, उष्णनाम, स्निग्धनाम और रुक्षनाम।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो वह 'गुरुनामकर्म'।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रुई (अर्क-तूल) जैसा हलका हो वह 'लघुनामकर्म'।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल—मुलायम हो उसे 'मृदुस्पर्शनामकर्म' कहते हैं।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ जैसा कर्कश—खरदरा हो, उसे कर्कशनामकर्म कहते हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से जीवका शरीर कमल-दण्ड या बर्फ़ जैसा थंडा हो, वह 'शीतस्पर्शनामकर्म'।

(६) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अग्नि के समान उष्ण हो वह 'उष्णस्पर्शनामकर्म'।

(७) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो वह 'स्निग्धस्पर्शनामकर्म'।

(८) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर, राख के समान रुक्ष—रूखा हो वह 'रुक्षस्पर्शनामकर्म'।

" वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की वीस प्रकृतियों में कौन प्रकृतियाँ शुभ और कौन अशुभ हैं, सो कहते हैं "

नीलकसिणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४२॥

(नील) नीलनाम, (कसिणं) कृष्णनाम, (दुगंधं) दुर्गन्ध नाम, (तित्तं) तिक्तनाम, (कडुयं) कटुनाम, (गुरुं) गुरुनाम, (खरं) खरनाम, (रुक्खं) रुक्षनाम, (च) और (सीयं) शीत-नाम यह (असुह नवगं) अशुभ-नवक है—अर्थात् नव प्रकृतियाँ अशुभ हैं और (सेसं) शेष (इक्कारसगं) ग्यारह प्रकृतियाँ (सुभं) शुभ हैं ॥ ४२ ॥

भावार्थ—वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम और स्पर्शनाम इन चारों की उत्तर-प्रकृतियाँ वीस हैं. वीस प्रकृतियों में नव प्रकृतियाँ अशुभ और ग्यारह शुभ हैं।

(१) वर्णनामकर्म की दो उत्तर प्रकृतियाँ अशुभ हैं—१ नील वर्णनाम और २ कृष्णवर्णनाम।

तीन प्रकृतियाँ शुभ हैं:—१ सितवर्णनाम, २ पीतवर्णनाम और ३ लोहितवर्णनाम।

(२) गन्ध नाम की एक प्रकृति अशुभ है:— १ दुरभिगन्ध-नाम।

एक प्रकृति शुभ है:—१ सुरभिगन्धनाम।

(३) रसनामकर्म की दो उत्तर प्रकृतियाँ अशुभ हैं :— १ तिक्तरसनाम और २ कटुरसनाम।

तीन प्रकृतियाँ शुभ हैं:—१ कपायरसनाम, २ आम्लरस-नाम, और ३ मधुररसनाम।

(४) स्पर्शनामकर्म की चार उत्तर-प्रकृतियाँ अशुभ हैं:—

१ गुरुस्पर्शनाम, २ खरस्पर्शनाम, ३ रुक्षस्पर्शनाम और ४ शीतस्पर्शनाम।

चार उत्तरप्रकृतियाँ शुभ हैं:-१ लघुस्पर्शनाम, २ मृदुस्पर्शनाम ३ स्निग्धस्पर्शनाम और ४ उष्णस्पर्शनाम।

" आनुपूर्वी नामकर्म के चार भेद, नरक-द्विक आदि संज्ञाएं तथा विहायोगति नामकर्म. "

चउहगइव्वणुपुव्वी गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुहवसुट्टविहगगई ॥४३॥

(चउह गइव्वणुपुव्वी) चतुर्विध गतिनामकर्म के समान आनुपूर्वी नामकर्म भी चार प्रकार का है, (गइपुव्विदुगं) गति और आनुपूर्वी ये दो, गति-द्विक कहलाते हैं (नियाउजुअं) अपनी अपनी आयु से युक्त द्विक को (तिगं) त्रिक—अर्थात् गति-त्रिक कहते हैं (वक्के) वक्र गति में—विग्रह गति में (पुव्वीउदओ) आनुपूर्वीनामकर्म का उदय होता है. (विहगगइ) विहायोगति नामकर्म दो प्रकार का है:—(सुह असुह) शुभ और अशुभ. इसमें दृष्टान्त है (वसुट्ट) वृष—बैल और उष्ट्र—ऊँट ॥ ४३ ॥

भावार्थ—जिसप्रकार गतिनामकर्म के चार भेद हैं उसी प्रकार आनुपूर्वीनामकर्म के भी चार भेद हैं:—(१) देवानुपूर्वी, (२) मनुष्यानुपूर्वी (३) तिर्यञ्चानुपूर्वी और (४) नरकानुपूर्वी.

जीव की स्वाभाविक गति, श्रेणी के अनुसार होती है आकाश-प्रदेशों की पङ्क्ति को श्रेणी कहते हैं. एक शरीर को छोड़ दूसरा शरीर धारण करने के लिये जब जीव, समश्रेणी से अपने उत्पत्ति-स्थान के प्रति जाने लगता है तब आनुपूर्वीनामकर्म, उस, उसके विश्रेणी-पतित उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचा देता है. जीव का उत्पत्ति-स्थान

यदि समश्रेणी में हो, तो आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नहीं होता. तात्पर्य यह है कि वक्र गति में आनुपूर्वीनामकर्म का उदय होता है, ऋजुगति में नहीं।

अब कुछ ऐसे सङ्केत दिखलाते हैं जिन का कि आगे उपयोग है।

जहाँ गति-द्विक ऐसा सङ्केत हो वहाँ गति और आनुपूर्वी ये दो प्रकृतियाँ लेनी चाहिये. जहाँ गति-त्रिक आवे वहाँ गति, आनुपूर्वी और आयु ये तीन प्रकृतियाँ ली जाती हैं. ये सामान्य संज्ञाएँ कही गईं, विशेष संज्ञाओं को इस प्रकार समझना चाहियेः—

नरक-द्विक—अर्थात् १ नरकगति और २ नरकानुपूर्वी।

नरक-त्रिक—अर्थात् १ नरकगति (२) नरकानुपूर्वी और ३ नरकायु।

तिर्यञ्च-द्विक—अर्थात् १ तिर्यञ्चगति और २ तिर्यञ्चानुपूर्वी।

तिर्यञ्च त्रिक—अर्थात् १ तिर्यञ्चगति तिर्यञ्चानुपूर्वी और ३ तिर्यञ्चायु।

इसी प्रकार सुर (देव)-द्विक, सुर-त्रिक; मनुष्य-द्विक, मनुष्यत्रिक को भी समझना चाहिये॥

पिण्ड-प्रकृतियों में चौदहवीं प्रकृति, विहायोगतिनाम है, उस की दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं १ शुभविहायोगतिनाम और २ अशुभविहायोगतिनाम।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव की चाल शुभ हो, वह 'शुभविहायोगति' जैसे कि हाथी, बैल, हंस आदि की चाल शुभ है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अशुभ हो वह 'अशुभविहायोगति'. जैसे कि ऊँट, गधा, टीढ़ी इत्यादि की चाल अशुभ है।

पिण्ड, प्रकृतियों के पैंसठ, या पन्द्रह बन्धनों की अपेक्षा पचहत्तर भेद कह चुके।

'पिण्डप्रकृतियों का वर्णन हो चुका अब प्रत्येक-प्रकृतियों का स्वरूप कहेंगे, इस गाथा में पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का स्वरूप कहते हैं"

परघाउदया पाणी परेसि बलिणंपि होइ दुद्धरिसो।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥ ४४ ॥

(परघाउदया) पराघात नामकर्म के उदय से (पाणी) प्राणी (परेसि बलिणंपि) अन्य बलवानों को भी (दुद्धरिसो) दुर्धर्ष—अजेय (होइ) होता है. (ऊसासनामवसा) उच्छ्वास नामकर्म के उदय से (ऊससणलद्धिजुत्तो) उच्छ्वास-लब्धि से युक्त (हवेइ) होता है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—इस गाथा से लेकर ५१ वीं गाथा तक प्रत्येक-प्रकृतियों के स्वरूप का वर्णन करेंगे. इस गाथा में पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव, कमज़ोरों का तो कहना ही क्या है, बड़े बड़े बलवानों की दृष्टि में भी अजेय समझा जावे उसे 'पराघातनामकर्म' कहते हैं. मतलब यह है कि, जिस जीव को इस कर्म का उदय रहता है, वह इतना प्रबल मालूम देता है कि बड़े बड़े बली भी उसका लोहा मानते हैं, राजाओं की सभा में उस के दर्शन मात्र से अथवा वाक्कौशल से बलवान् विरोधियों के छक्के छूट जाते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव, श्वासोच्छ्वास-लब्धि से युक्त होता है उसे 'उच्छ्वासनामकर्म' कहते हैं. शरीर से बाहर की हवा को नासिका-द्वारा अन्दर खींचना 'श्वास' कहलाता है, और शरीर के अन्दर की हवा को नासिका-द्वारा बाहर छोड़ना 'उच्छ्वास'—इन दोनों कामों को करने की शक्ति उच्छ्वासनाम-कर्म से होती है।

"आतप नामकर्म."

रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे।
जमुसिणफासस्स तहिं लोहियवन्नस्स उदउत्ति
॥ ४५ ॥

(आयवाउ) आतप नामकर्म के उदय से (जियंगं) जीवों का अङ्ग तावजुअं ताप-युक्त होता है, और इस कर्म का उदय (रवि बिंबेउ) सूर्य-मण्डल के पार्थिव शरीरों में ही होता है. (नउजलणे) किन्तु अग्निकाय जीवों के शरीर में नहीं होता, (जमुसिणफासस्स तहिं क्योंकि अग्निकाय के शरीर में उष्णस्पर्शनाम का और (लोहियवन्नस्स) लोहितवर्णनाम का (उदउत्ति) उदय रहता है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीवका शरीर, स्वयं उष्ण न होकर भी, उष्ण प्रकाश करता है, उसे 'आतपनामकर्म' कहते हैं. सूर्य्य-मण्डल के बादरएकेन्द्रियपृथ्वीकाय जीवों का शरीर ठंडा है परन्तु आतपनामकर्म के उदय से वह (शरीर), उष्ण प्रकाश करता है. सूर्य्यमण्डल के एकेन्द्रिय जीवोंको छोड़ कर अन्य जीवों को आतपनामकर्म का उदय नहीं होता. यद्यपि अग्नि काय के जीवों का शरीर भी उष्ण प्रकाश करता है परन्तु

वह आतपनामकर्म के उदय से नहीं किन्तु उष्णस्पर्शनामकर्म के उदय से शरीर उष्ण होता है और लोहितवर्णनामकर्म के उदय से प्रकाश करता है ॥ ४५ ॥

"उद्योतनामकर्म का स्वरूप"

अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
जइदेवुत्तरविक्कियजोइस खज्जोयमाइव्व ॥ ४६ ॥

(इह) यहां (उज्जोया) उद्योतनामकर्म के उदय से (जियंग) जीवों का शरीर (अणुसिणपयासरूवं) अनुष्ण प्रकाश रूप (उज्जोयए) उद्योत करता है, इसमें दृष्टान्त—(जइदेवुत्तरविक्किय जोइसखज्जोयमाइव्व) साधु और देवों के उत्तर वैक्रिय-शरीर की तरह, ज्योतिष्क—चन्द्र, नक्षत्र, ताराओं के मण्डल की तरह और खद्योत जुगनू की तरह ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीवका शरीर उष्णस्पर्श रहित—अर्थात् शीत प्रकाश फैलाता है, उसे 'उद्योतनामकर्म' कहते हैं।

लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय शरीर धारण करते हैं तब उनके शरीर में से शीतल प्रकाश निकलता है सो इस उद्योतनामकर्म के उदय से समझना चाहिये. इसी प्रकार देव जब अपने मूल शरीर की अपेक्षा उत्तर-वैक्रियशरीर धारण करते हैं तब उस शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है सो उद्योतनामकर्म के उदय से. चन्द्रमण्डल, नक्षत्रमण्डल और तारामण्डल के पृथ्वीकाय जीवों के शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है वह उद्योतनाम

कर्म के उदय से. इसी प्रकार जुगनू, रत्न तथा प्रकाशवाली औषधियों को भी उद्योतनामकर्म का उदय समझना चाहिये।

"अगुरुलघु नामकर्म का और तीर्थंकर नामकर्म का स्वरूप"

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरु-लहुउदया। तित्थेण तिहुयणस्स वि पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥ ४७ ॥

(अगुरुलहुउदया) अगुरुलघु नामकर्म के उदय से (जीवस्स) जीवका (अंग) शरीर (न गुरु न लहुयं) न तो भारी और न हलका (जायइ) होता है. (तित्थेण) तीर्थंकर नामकर्म के उदय से (तिहुयणस्स वि) त्रिभुवन का भी पूज्य होता है; (से उदओ) उस तीर्थंकर नामकर्म का उदय, (केवलिणो) जिसे कि केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी को होता है ॥ ४७ ॥

भावार्थ।

अगुरुलघुनाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न भारी होता है और न हल्का ही होता है, उसे अगुरुलघुनामकर्म कहते हैं. तात्पर्य यह है कि जीवों का शरीर इतना भारी नहीं होता कि उसे सम्भालना कठिन हो जाय अथवा इतना हलका भी नहीं होता कि हवा में उड़ने से नहीं बचाया जा सके, किन्तु अगुरुलघु-परिमाण वाला होता है सो अगुरुलघु नामकर्म के उदय से समझना चाहिये।

तीर्थंकरनाम—जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है उसे 'तीर्थंकरनामकर्म' कहते हैं. इस कर्म का उदय उसी जीव को होता है जिसे केवलज्ञान (अनन्तज्ञान, पूर्णज्ञान) उत्पन्न हुआ है. इस कर्म के प्रभाव से वह अपरिमित ऐश्वर्य का भोक्ता

होता है. संसार के प्राणियों को वह अपने अधिकार-युक्त वाणी से उस मार्ग को दिखलाता है जिसपर खुद चलकर उसने कृत-कृत्य-दशा प्राप्त कर ली है इसलिये संसार के बड़े से बड़े शक्तिशाली देवेन्द्र और नरेन्द्र तक उसकी अत्यन्त श्रद्धा से सेवा करते हैं।

"निर्माण नामकर्म और उपघात नामकर्म का स्वरूप"

अंगोवंगनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलंविगाईहिं॥४८॥

(निम्माणं) निर्माण नामकर्म (अंगोवंगनियमणं) अङ्गों और उपाङ्गों का नियमन—अर्थात् यथायोग्य प्रदेशों में व्यवस्थापन (कुणइ) करता है, इसलिये यह (सुत्तहारसमं) सूत्रधार के सदृश है. (उवघाया) उपघात नामकर्म के उदय से (सतणुवयवलंविगाईहिं) अपने शरीर के अवयव-भूत लंविका आदि से जीव (उवहम्मइ) उपहत होता है॥ ४८॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से, अङ्ग और उपाङ्ग, शरीर में अपनी अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं वह 'निर्म्माणनामकर्म'. इसे सूत्रधार की उपमा दी है—अर्थात् जैसे, कारीगर हाथ पैर आदि अवयवों को मूर्ति में यथोचित स्थान पर बना देता है उसी प्रकार निर्माणनामकर्म का काम अवयवों को उचित स्थानों में व्यवस्थापित करना है. इस कर्म के अभाव में अङ्गोपाङ्गनामकर्म के उदय से बने हुये अङ्ग-उपाङ्गों के स्थान का नियम न होता—अर्थात् हाथों की जगह हाथ, पैरों की जगह पैर, इस प्रकार स्थान का नियम नहीं रहता।

जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों से—प्रतिजिह्वा (पडजीभ), चौरदन्त (ओठ से बाहर निकले हुए दाँत), रसौली, छठी उंगली आदि से—क्लेश पाता है, वह 'उपघातनामकर्म'।

"आठ प्रत्येकप्रकृतियों का स्वरूप कहा गया अब त्रस-दशक का स्वरूप कहेंगे, इस गाथा में त्रसनाम, बादरनाम और पर्याप्त-नामकर्म का स्वरूप कहेंगे."

बितिचउपणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला । नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धि-करणेहिं ॥ ४६ ॥

(तसा) त्रसनामकर्म के उदय से जीव (बि ति चउ पणिं-दिय) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय होते हैं. (बायरओ) बादरनामकर्म के उदय से (जिया) जीव (बायरा) बादर—अर्थात् (थूला) स्थूल होते हैं. (पज्जत्ता) पर्याप्तनाम-कर्म के उदय से, जीव (नियनिय पज्जत्तिजुया) अपनी अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं और वे पर्याप्त जीव (लद्धिकरणेहिं) लब्धि और करण को लेकर दो प्रकार के हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो जीव सर्दी-गरमी से अपना बचाव करने के लिये एक स्थान को छोड़ दूसरे स्थान में जाते हैं वे त्रस कह-लाते हैं; ऐसे जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हैं ।

त्रसनाम—जिस कर्म के उदय से जीव को त्रस काय की प्राप्ति हो, वह त्रसनामकर्म ।

बादरनाम—जिस कर्म के उदय से जीव बादर—अर्थात् स्थूल होते हैं, वह बादरनामकर्म ।

आँख जिसे देख सके वह बादर, ऐसा बादर का अर्थ नहीं है क्योंकि एक एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आँख से नहीं देखा जा सकता. बादरनामकर्म, जीवविपाकिनी प्रकृति है

वह जीव में बादर-परिणाम को उत्पन्न करती है; यह प्रकृति जीव-विपाकिनी हो कर भी शरीर के पुद्गलों में कुछ अभिव्यक्ति प्रकट करती है, जिस से बादर पृथ्वीकाय आदि का समुदाय, दृष्टि-गोचर होता है. जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं है ऐसे सूक्ष्म जीवों के समुदाय दृष्टि-गोचर नहीं होते. यहाँ यह शङ्का होती है कि बादरनामकर्म, जीवविपाकी प्रकृति होने के कारण, शरीर के पुद्गलों में अभिव्यक्ति-रूप अपने प्रभाव को कैसे प्रकट कर सकेगा? इसका समाधान यह है कि जीवविपाकी प्रकृति का शरीर में प्रभाव दिखलाना विरुद्ध नहीं है. क्योंकि क्रोध, जीवविपाकी प्रकृति है तथापि उस से भौंहों का टेढ़ा होना, आँखों का लाल होना, ओठों का फड़कना इत्यादि परिणाम स्पष्ट देखा जाता है. सारांश यह है कि कर्म-शक्ति विचित्र है, इसलिये बादरनाम-कर्म, पृथ्वीकाय आदि जीव में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है और बादर पृथ्वीकाय आदि जीवों के शरीर-समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट करता है जिस से कि वे शरीर दृष्टि-गोचर होते हैं।

पर्याप्तनामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं, वह पर्याप्तनामकर्म. जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं, जिस के द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का काम होता है. अर्थात् पुद्गलों के उपचय से जीवकी पुद्गलों के ग्रहण करने तथा परिणमाने की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं. विषय-भेद से पर्याप्ति के छह भेद हैं:—आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, उच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनः-पर्याप्ति.

मृत्यु के बाद, जीव, उत्पत्ति-स्थान में पहुंच कर कार्मण-शरीर के द्वारा जिन पुद्गलों को प्रथम समय में ग्रहण करता है उन के द्वारा

विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ, छहों पर्याप्तियों का बनना शुरू हो जाता है;—अर्थात् प्रथम समय में ग्रहण किये हुये पुद्गलों के छह भागों में से एक एक भाग लेकर हर एक पर्याप्ति का बनना शुरू हो जाता है, परन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है. जो औदारिक-शरीर-धारी जीव हैं, उनकी आहार-पर्याप्ति एक समय में पूर्ण होती है, और अन्य पाँच पर्याप्तियां अन्तमुहूर्त्त में क्रमशः पूर्ण होती हैं. वैक्रिय-शरीर-धारी जीवों की शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण होने में अन्तर्मुहूर्त्त समय लगता है और अन्य पांच पर्याप्तियां के पूर्ण होने में एक एक समय लगता है।

(१) जिस शक्ति के द्वारा जीव बाह्य आहार को ग्रहण कर उसे, खल और रस के रूप में बदल देता है वह 'आहार-पर्याप्ति.'

(२) जिस शक्ति के द्वारा जीव, रस के रूप में बदल दिये हुये आहार को सात धातुओं के रूप में बदल देता है उसे 'शरीर-पर्याप्ति' कहते हैं।

सात धातुओं के नाम:—रस, खून, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा (हड्डी के अन्दर का पदार्थ) और वीर्य. यहाँ यह सन्देह होता है कि आहार-पर्याप्ति से आहार का रस बन चुका है, फिर शरीर-पर्याप्ति के द्वारा भी रस बनाने की शुरूआत कैसे कही गई? इस का समाधान यह है कि आहार-पर्याप्ति के द्वारा आहार का जो रस बनता है उसकी अपेक्षा शरीर-पर्याप्ति के द्वारा बना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है. और यही रस, शरीर के बनने में उपयोगी है।

(३) जिस शक्ति के द्वारा जीव, धातुओं के रूप में बदले हुये आहार को इन्द्रियों के रूप में बदल देता है उसे 'इन्द्रिय-पर्याप्ति' कहते हैं।

(४) जिस शक्ति के द्वारा जीव श्वासोच्छ्वास-योग्य पुद्गलों को (श्वासोच्छ्वास-प्रायोग्य वर्गणा-दलिकों को) ग्रहण कर, उन को श्वासोच्छ्वास के रूप में बदल कर तथा अवलम्बन कर छोड़ देता है, उसे 'उच्छ्वास-पर्याप्ति' कहते हैं।

जो पुद्गल, आहार-शरीर-इन्द्रियों के बनने में उपयोगी हैं, उन की अपेक्षा, श्वासोच्छ्वास के पुद्गल भिन्न प्रकार के हैं. उच्छ्वास-पर्याप्ति का जो स्वरूप कहा गया, उस में पुद्गलों का ग्रहण करना, परिणमाना तथा अवलम्बन करके छोड़ना ऐसा कहा गया है. अवलम्बन कर छोड़ना, इस का तात्पर्य यह है कि छोड़ने में भी शक्ति की जरूरत होती है इसलिये, पुद्गलों के अवलम्बन करने से एक प्रकार की शक्ति पैदा होती है जिस से पुद्गलों को छोड़ने में सहारा मिलता है. इस में यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे, गेंद को फेंकने के समय, जिस तरह हम उसे अवलम्बन करते हैं; अथवा बिल्ली, ऊपर कूदने के समय, अपने शरीर के अवयवों को सङ्कुचित कर, जैसे उसका सहारा लेती है उसी प्रकार जीव, श्वासोच्छ्वास के पुद्गलों को छोड़ने के समय उसका सहारा लेता है. इसी प्रकार आगे—भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति में भी समझना चाहिये।

(५) जिस शक्ति के द्वारा जीव, भाषा-योग्य पुद्गलों को लेकर उनको भाषा के रूप में बदल कर तथा अवलम्बन कर छोड़ता है उसे 'भाषा-पर्याप्ति' कहते हैं।

(६) जिस शक्ति के द्वारा जीव, मनो-योग्य पुद्गलों को लेकर उनको मन के रूप में बदल देता है तथा अवलम्बन कर छोड़ता है, वह 'मनः-पर्याप्ति'।

इन छह पर्याप्तियों में से प्रथम की चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीव को, पाँच पर्याप्तियाँ विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय को और छह पर्याप्तियाँ संज्ञि पञ्चेन्द्रिय को होती हैं।

पर्याप्त जीवों के दो भेद हैं:—(१) लब्धि-पर्याप्त और २) करण-पर्याप्त.

१—जो जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों को पूर्ण कर के मरते हैं, पहले नहीं, वे 'लब्धि-पर्याप्त'.

२—करण का अर्थ है इन्द्रिय, जिन जीवों ने इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण करली है—अर्थात् आहार, शरीर और इन्द्रिय तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करली हैं, वे 'करण-पर्याप्त'. क्योंकि विना आहार-पर्याप्ति और शरीर-पर्याप्ति पूर्ण किये, इन्द्रिय-पर्याप्ति, पूर्ण नहीं हो सकती इसलिये तीनों पर्याप्तियाँ ली गई।

अथवा—अपनी योग्य-पर्याप्तियाँ; जिन जीवों ने पूर्ण की है, वे जीव, करण-पर्याप्त कहलाते हैं. इस तरह करण-पर्याप्त के दो अर्थ हैं।

"प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभगनाम के स्वरूप."

पत्तेयतणू पत्तेउदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं।
नाभुवरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

(पत्तेउदयेणं) प्रत्येकनामकर्म के उदय से जीवों को (पत्तेयतणू) पृथक् पृथक् शरीर होते हैं, जिस कर्म के उदय से (दंत-अट्ठिमाइ) दाँत, हड्डी आदि स्थिर होते हैं, उसे (थिर) स्थिर-नामकर्म कहते हैं, जिस कर्म के उदय से (नाभुवरिसिराइ) नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं, उसे (सुहं) शुभनाम-कर्म कहते हैं. (सुभगाओ) सुभगनामकर्म के उदय से, जीव (सव्वजणइट्ठो) सब लोगों को प्रिय लगता है ॥ ५० ॥

भावार्थ ।

प्रत्येकनाम—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येकनामकर्म कहते हैं।

स्थिरनाम—जिस कर्म के उदय से दांत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर—अर्थात् निश्चल होते हैं, उसे स्थिरनामकर्म कहते हैं।

शुभनाम—जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं, वह शुभनामकर्म. हाथ, सिर आदि शरीर के अवयवों से स्पर्श होने पर किसी को अप्रीति नहीं होती जैसे कि पैर के स्पर्श से होती है, यही नाभि के ऊपर के अवयवों में शुभत्व है।

सुभगनाम—जिस कर्म के उदय से, किसी प्रकार का उपकार किये बिना या किसी तरह के सम्बन्ध के बिना भी जीव सबका प्रीति-पात्र होता है. उसे सुभगनामकर्म कहते हैं।

"सुस्वरनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिनाम और स्थावर-दशक का स्वरूप."

सुसरा महुरसुहझुणी आइज्जा सव्वलोय गिज्झवओ। जसओ जसकित्तीओ थावरदसगं विवज्जत्थं ॥ ५१ ॥

(सुसरा) सुस्वरनाम के उदय से (महुरसुहझुणी) मधुर और सुखद ध्वनि होती है. (आइज्जा) आदेयनाम के उदय से (सव्वलोयगिज्झवओ) सब लोग वचन का आदर करते हैं. जसओ। यशःकीर्तिनाम के उदय से (जसकित्ती) यशःकीर्ति होती है. (थावर-दसगं) स्थावर-दशक, (इओ) इस से—त्रस दशक से (विवज्जत्थं) विपरीत अर्थ वाला है ॥ ५१ ॥

भावार्थ—जिस कर्म के उदय से जीवका स्वर (आवाज़) मधुर और प्रीतिकर हो, वह 'सुस्वरनामकर्म'. इसमें दृष्टान्त, कोयल-मोर-आदि जीवों का स्वर है।

जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्व-मान्य हो, वह 'आदेयनामकर्म'.

जिस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्त्ति फैले, वह 'यशःकीर्त्तिनामकर्म'.

किसी एक दिशा में नाम (प्रशंसा) हो, तो 'कीर्ति' और सब दिशाओं में नाम हो, तो 'यश' कहलाता है.

अथवा—दान, तप आदि से जो नाम होता है, वह कीर्त्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने से जो नाम होता है, वह यश कहलाता है.

त्रस-दशक का—त्रसनाम आदि दस कर्मों का—जो स्वरूप कहा गया है, उस से विपरीत, स्थावर-दशक का स्वरूप है. इसी को नीचे लिखा जाता है:—

(१) **स्थावरनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहें—सर्दी-गरमी से बचने की कोशिश न कर सकें, वह स्थावर-नामकर्म.

पृथिवीकाय, जलकाय, तेजःकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय, ये स्थावर जीव हैं.

यद्यपि तेजःकाय और वायुकाय के जीवों में स्वाभाविक गति है तथापि द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी-गरमी से बचने की विशिष्ट-गति उनमें नहीं है.

(२) **सूक्ष्मनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर—जो किसी को रोक न सके और न खुद ही किसी से रुके—प्राप्त हो, वह सूक्ष्मनाम कर्म.

इस नामकर्म वाले जीव भी पाँच स्थावर ही होते हैं. वे सब लोकाकाश में व्याप्त हैं. आँख से नहीं देखे जा सकते.

(३) अपर्याप्तनाम—जिस कर्म के उदय से जीव, स्व-योग्य-पर्याप्ति पूर्ण न करे, वह अपर्याप्तनामकर्म. अपर्याप्त जीवों के दो भेद हैं: लब्ध्यपर्याप्त और करणापर्याप्त.

जो जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये विना ही मरते हैं वे लब्ध्य-पर्याप्त. आहार, शरीर तथा इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को जिन्हों ने अबतक पूर्ण नहीं किया किन्तु आगे पूर्ण करने वाले हों वे करणापर्याप्त. इस विषय में आगम इस प्रकार कहता है:—

लब्ध्यपर्याप्त जीव भी आहार-शरीर-इन्द्रिय इन तीन पर्या-प्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं. क्योंकि आगामि-भव की आयु बाँध कर ही सब प्राणी मरा करते हैं और आयु का बन्ध उन्हीं जीवों को होता है जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं.

(४) साधारणनाम—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एकही शरीर हो—अर्थात् अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी बनें, वह साधारणनामकर्म।

(५) अस्थिरनाम—जिस कर्म के उदय से कान, भौंह, जीभ आदि अवयव अस्थिर—अर्थात् चपल होते हैं, वह अस्थिर-नामकर्म।

(६) अशुभनाम—जिस कर्म के उदयसे नाभि के नीचे के अवयव—पैर आदि अशुभ होते हैं वह अशुभनामकर्म। पैर से स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, यही अशुभत्व है।

दुर्भगनाम—जिस कर्म के उदय से उपकार करने वाला भी अप्रिय लगे वह दुर्भगनाम।

देवदत्त निरंतर दूसरों की भलाई किया करता है, तो भी उसे कोई नहीं चाहता, ऐसी दशा में समझना चाहिये कि देवदत्त को दुर्भगनामकर्म का उदय है।

(८) **दुःस्वरनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश—सुनने में अप्रिय लगे, वह दुःस्वरनामकर्म।

(९) **अनादेयनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन, युक्त होते हुए भी अनादरणीय समझा जाता है, वह अनादेयनामकर्म।

(१०) **अयशःकीर्तिनाम**—जिस कर्म के उदय से दुनिया में अपयश और अपकीर्ति फैले, वह अयशःकीर्तिनाम।

स्थावर-दशक समाप्त हुआ. नाम कर्म के ४२,९३, १०३ और ६७ भेद कह चुके।

"गोत्रकर्म के दो भेद और अन्तराय के पाँच भेद."

गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं।
विग्घं दाणे लाभे भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥ ५२ ॥

(गोयं) गोत्रकर्म (दुहुच्चनीयं) दो प्रकार का है: उच्च और नीच; यह कर्म (कुलाल इव) कुंभार के सदृश है जो कि (सुघडभुंभलाईयं) सुघट और मद्यघट आदि को बनाता है. (दाणे), दान, (लाभे) लाभ, (भोगुवभोगेसु) भोग, उपभोग, (य) और (वीरिए) वीर्य, इन में विघ्न करने के कारण, (विग्घ) अन्तरायकर्म पाँच प्रकार का है ॥ ५२ ॥

भावार्थ—गोत्रकर्म सातवाँ है, उस के दो भेद हैं:—उच्चैर्गोत्र और नीचैर्गोत्र. यह कर्म कुंभार के सदृश है. जैसे वह अनेक प्रकार के घड़े

बनाता है, जिन में से कुछ ऐसे होते हैं जिन को कलश बना कर लोग अक्षत, चन्दन आदि से पूजते हैं; और कुछ घड़े ऐसे होते हैं, जो मद्य रखने के काम में आते हैं अतएव वे निन्द्य समझे जाते हैं. इसी प्रकारः—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है वह 'उच्चैर्गोत्र'।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है वह 'नीचैर्गोत्र'।

धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध से जिस कुलने चिर काल से प्रसिद्धि प्राप्त की है वह उच्च-कुल, जैसेः—इक्ष्वाकु-वंश, हरिवंश, चन्द्रवंश आदि. अधर्म और अनीति के पालन से जिस कुलने चिर काल से प्रसिद्धि प्राप्त की है वह नीच-कुल, जैसे भिक्षुक-कुल, वधक-कुल (कसाइयों का), मद्यविक्रेतृ-कुल-(दारु बेचनेवालों का), चोर-कुल इत्यादि ।

अन्तरायकर्म, जिस का दूसरा नाम 'विघ्नकर्म' है उसके पाँच भेद हैं:—

(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय.

(१) दान की चीज़ें मौजूद हों, गुणवान् पात्र आया हो, दान का फल जानता हो तो भी जिस कर्म के उदय से जीवको दान करने का उत्साह नहीं होता, वह 'दानान्तरायकर्म'.

(२) दाता उदार हो, दानकी चीजें मौजूद हों, याचना में कुशलता हो तो भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो, वह 'लाभान्तरायकर्म'.

यह न समझना चाहिये कि लाभान्तराय का उदय याचकों को ही होता है. यहां तो दृष्टान्त मात्र दिया गया है. योग्य सामग्री

के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से नहीं होने पाती वह 'लाभान्तराय,' ऐसा इस कर्म का अर्थ है.

(३) भोग के साधन मौजूद हों, वैराग्य न हो, तो भी, जिस कर्म के उदय से जीव, भोग्य चीज़ों को न भोग सके, वह 'भोगान्तरायकर्म'.

(४) उपभोग की सामग्री मौजूद हो, विरति-रहित हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न ले सके वह 'उपभोगान्तरायकर्म'

जो पदार्थ एक बार भोगे जाँय, उन्हें भोग कहते हैं, जैसे कि --फल, फूल, जल, भोजन आदि.

जो पदार्थ बार बार भोगे जाँय उनको उपभोग कहते हैं, जैसे कि --मकान, वस्त्र, आभूषण, स्त्री आदि.

(५) वीर्य का अर्थ है सामर्थ्य. बलवान् हो, रोग रहित हो, युवा हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव एक तृण को भी टेढ़ा न कर सके, उसे 'वीर्यान्तरायकर्म' कहते हैं.

वीर्यान्तराय के अवान्तर भेद तीन हैं:- (१) बालवीर्यान्तराय (२) पण्डितवीर्यान्तराय और (३) बालपण्डितवीर्यान्तराय.

(१) सांसारिक कार्यों को करने में समर्थ हो तो भी जीव, उनको जिसके उदय से न कर सके, वह 'बालवीर्यान्तरायकर्म'.

(२) सम्यग्दृष्टि साधु, मोक्ष की चाह रखता हुआ भी, तदर्थ क्रियाओं को, जिस के उदय से न कर सके, वह 'पण्डितवीर्यान्तरायकर्म'.

(३) देश-विरति को चाहता हुआ भी जीव, उसका पालन, जिस के उदय से न कर सके, वह 'बालपण्डितवीर्यान्तरायकर्म'.

" अन्तरायकर्म भण्डारी के सदृश है. "

सिरिहरियसमं एयं जह पडिकूलेण तेण रायाई । न कुणइ दाणाईयं एवं विग्घेण जीवो-वि ॥ ५३ ॥

(एयं) यह अन्तरायकर्म (सिरिहरियसमं) श्रीगृही—भण्डारी के समान है. (जह) जैसे (तेण) उसके—भण्डारी के (पडिकूलेण) प्रतिकूल होने से (रायाई) राजा आदि (दाणाईयं) दान आदि (न कुणइ) नहीं करते—नहीं कर सकते. (एवं) इस प्रकार (विग्घेण) विघ्नकर्म के कारण (जीवो वि) जीव भी दान आदि नहीं कर सकता ॥ ५३ ॥

भावार्थ—देवदत्त याचक ने राजा साहब के पास आकर भोजन की याचना की. राजा साहब, भण्डारी को भोजन देने की आज्ञा दे कर चल दिये. भण्डारी असाधारण है. आँखें लाल कर उसने याचक से कहा—"चुपचाप चलदो." याचक खाली हाथ लौट गया. राजा की इच्छा थी, पर भण्डारी ने उसे सफल होने नहीं दिया. इस प्रकार जीव राजा है, दान आदि करने की उसकी इच्छा है पर, अन्तरायकर्म इच्छा को सफल नहीं होने देता ।

"आठ मूल-प्रकृतियों की तथा एक सौ अट्ठावन उत्तर-प्रकृतियों की सूची."

[कर्म की आठ मूल-प्रकृतियाँ]

१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय।

[ज्ञानावरण की पांच उत्तर-प्रकृतियां]

१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनःपर्यायज्ञानावरण और ५ केवलज्ञानावरण।

[दर्शनावरण की नव उत्तर-प्रकृतियां]

१ चक्षुर्दर्शनावरण, २ अचक्षुर्दर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण, ४ केवलदर्शनावरण, ५ निद्रा, ६ निद्रानिद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि।

[वेदनीय की दो उत्तर-प्रकृतियां]

१ सातवेदनीय और २ असातवेदनीय।

[मोहनीय की अट्ठाईस उत्तर-प्रकृतियां]

१ सम्यक्त्वमोहनीय, २ मिश्रमोहनीय, ३ मिथ्यात्वमोहनीय, ४ अनन्तानुबन्धिक्रोध, ५ अप्रत्याख्यानक्रोध, ६ प्रत्याख्यानक्रोध, ७ संज्वलनक्रोध, ८ अनन्तानुबन्धिमान, ९ अप्रत्याख्यानमान, १० प्रत्याख्यानमान, ११ संज्वलनमान, १२ अनन्तानुबन्धिनी माया, १३ अप्रत्याख्यानमाया, १४ प्रत्याख्यानमाया, १५ संज्वलनमाया, १६ अनन्तानुबन्धिलोभ, १७ अप्रत्याख्यानलोभ, १८ प्रत्याख्यानलोभ, १९ संज्वलनलोभ, २० हास्य, २१ रति, २२ अरति, २३ शोक, २४ भय, २५ जुगुप्सा, २६ पुरुषवेद, २७ स्त्रीवेद और २८ नपुंसकवेद।

[आयु की चार उत्तर-प्रकृतियां]

१ देवायु, २ मनुष्यायु, ३ तिर्यञ्चायु और ४ नरकायु।

[नामकर्म की एक सौ तीन उत्तर प्रकृतियां]

१ नरकगति, २ तिर्यञ्चगति, ३ मनुष्यगति, ४ देवगति, ५ एकेन्द्रियजाति, ६ द्वीन्द्रियजाति, ७ त्रीन्द्रियजाति, ८ चतुरिन्द्रियजाति, ९ पञ्चेन्द्रियजाति, १० औदारिकशरीरनाम, ११ वैक्रियशरीरनाम, १२ आहारकशरीरनाम, १३ तैजसशरीरनाम, १४ कार्मणशरीरनाम, १५ औदारिकअङ्गोपाङ्ग, १६ वैक्रियअङ्गोपाङ्ग, १७ आहारकअङ्गोपाङ्ग, १८ औदारिक-औदारिकबन्धन, १९ औदारिकतैजसबन्धन, २० औदारिक-कार्मणबन्धन, २१ औदारिकतैजसकार्मणबन्धन, २२ वैक्रिय-वैक्रियबन्धन, २३ वैक्रियतैजसबन्धन, २४ वैक्रियकार्मण-बन्धन, २५ वैक्रियतैजसकार्मणबन्धन, २६ आहारकआहारक-बन्धन, २७ आहारकतैजसबन्धन, २८ आहारककार्मणबन्धन, २९ आहारकतैजसकार्मणबन्धन, ३० तैजसतैजसबन्धन, ३१ तैजसकार्मणबन्धन, ३२ कार्मणकार्मणबन्धन, ३३ औदारिकसंघातन, ३४ वैक्रियसंघातन, ३५ आहारकसंघातन, ३६ तैजससंघातन, ३७ कार्मणसंघातन, ३८ वज्रऋषभनाराच-संहनन, ३९ ऋषभनाराचसंहनन, ४० नाराचसंहनन, ४१ अर्द्धनाराचसंहनन, ४२ कीलिकासंहनन, ४३ सेवार्तसंहनन, ४४ समचतुरस्रसंस्थान, ४५ न्यग्रोधसंस्थान, ४६ सादिसंस्थान, ४७ वामनसंस्थान, ४८ कुब्जसंस्थान, ४९ हुण्ड-संस्थान, ५० कृष्णवर्णनाम, ५१ नीलवर्णनाम, ५२ लोहित-वर्णनाम, ५३ हारिद्रवर्णनाम, ५४ श्वेतवर्णनाम, ५५ सुरभि-गन्ध, ५६ दुरभिगन्ध, ५७ तिक्तरस, ५८ कटुरस, ५९ कषाय-रस, ६० आम्लरस, ६१ मधुररस, ६२ कर्कशस्पर्श, ६३

मृदुस्पर्श, ६४ गुरुस्पर्श, ६५ लघुस्पर्श, ६६ शीतस्पर्श, ६७ उष्णस्पर्श, ६८ स्निग्धस्पर्श, ६९ रूक्षस्पर्श, ७० नरकानुपूर्वी, ७१ तिर्यञ्चानुपूर्वी, ७२ मनुष्यानुपूर्वी, ७३ देवानुपूर्वी, ७४ शुभविहायोगति, ७५ अशुभविहायोगति, ७६ पराघात, ७७ उच्छ्वास, ७८ आतप, ७९ उद्योत, ८० अगुरुलघु, ८१ तीर्थंकरनाम, ८२ निर्माण, ८३ उपघात, ८४ त्रस, ८५ बादर, ८६ पर्याप्त, ८७ प्रत्येक, ८८ स्थिर, ८९ शुभ, ९० सुभग, ९१ सुस्वर, ९२ आदेय, ९३ यशःकीर्ति, ९४ स्थावर, ९५ सूक्ष्म, ९६ अपर्याप्त, ९७ साधारण, ९८ अस्थिर, ९९ अशुभ, १०० दुर्भग, १०१ दुःस्वर, १०२ अनादेय और १०३ अयशःकीर्ति।

[गोत्र की दो उत्तर-प्रकृतियां]

१ उच्चैर्गोत्र और २ नीचैर्गोत्र।

[अन्तराय की पाँच उत्तर-प्रकृतियां]

१ दानान्तराय, २ लाभान्तराय, ३ भोगान्तराय, ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

बन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता की अपेक्षा आठ कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों की सूची ।

कर्म-नाम.	ज्ञाना-वरण.	दर्शना-वरण.	वेदनीय.	मोहनीय.	आयु.	नाम.	गोत्र.	अन्तराय.	कुल संख्या
बन्ध-योग्य प्रकृतियां.	५	६	२	२६	४	६७	२	५	१२०
उदय-योग्य प्रकृतियां.	५	६	२	२८	४	६७	२	५	१२२
उदीरणा-योग्य प्रकृतियां.	५	६	२	२८	४	६७	२	५	१२२
सत्ता-योग्य प्रकृतियां.	५	६	२	२८	४	१०३ अथवा ९३	२	५	१५८ १४८

"अब जिस कर्म के जो स्थूल बन्ध-हेतु हैं उनको कहेंगे. इस गाथा में ज्ञानावरण और दर्शन वरण के बन्ध के कारण कहते हैं."

पडिणीयत्तण निन्हव उवघायपओसअंतराएणं । अच्चासायणयाए आवरणदुगं जिओ जयइ ॥ ५४ ॥

(पडिणीयत्तण) प्रत्यनीकत्व अनिष्ट आचरण, (निन्हव) अपलाप, (उवघाय) उपघात—विनाश, (पओस) प्रद्वेष, (अन्तराएणं) अन्तराय और (अच्चासायणयाए) अतिआशातना, इन के द्वारा (जिओ) जीव, (आवरणदुगं) आवरण-द्विक का —ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्म का (जयइ) उपार्जन करता है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—कर्म-बन्ध के मुख्यहेतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार हैं, जिनको कि चौथे कर्मग्रन्थ में विस्तार से कहेंगे. यहां संक्षेप से साधारण हेतुओं को कहते हैं. ज्ञानावरणीयकर्म और दर्शनावरणीयकर्म के बन्ध के साधारण हेतु ये हैं:—

(१) ज्ञानवान् व्यक्तियों के प्रतिकूल आचरण करना।

(२) अमुक के पास पढ़कर भी मैंने इन से नहीं पढ़ा है अथवा अमुक विषय को जानता हुआ भी मैं इस विषय को नहीं जानता इस प्रकार अपलाप करना।

(३) ज्ञानियों का तथा ज्ञान के साधन—पुस्तक, विद्या, मन्दिर आदि का, शस्त्र, अग्नि आदि से सर्वथा नाश करना।

(४) ज्ञानियों तथा ज्ञान के साधनों पर प्रेम न करना— उन पर अरुचि रखना।

(५) विद्यार्थियों के विद्याभ्यास में विघ्न पहुँचाना, जैसे कि भोजन, वस्त्र, स्थान आदि का उनको लाभ होता हो, तो उसे न होने देना, विद्याभ्यास से छुड़ा कर उन से अन्य काम करवाना इत्यादि।

(६) ज्ञानियों की अत्यन्त आशातना करना ; जैसे कि ये नीच कुल के हैं, इनके माँ-बाप का पता नहीं है इस प्रकार मर्म-च्छेदी बातों को लोक में प्रकाशित करना, ज्ञानियों को प्राणान्त कष्ट हो इस प्रकार के जाल रचना इत्यादि।

इसी प्रकार निषिद्ध देश (स्मशान आदि), निषिद्ध काल (प्रतिपद्तिथि, दिन-रात का सन्धिकाल आदि) में अभ्यास करना, पढ़ानेवाले गुरु का विनय न करना, उँगली में थूँक लगा कर पुस्तकों के पत्रों को उलटना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि को पैरों से हटाना, पुस्तकों से तकिये का काम लेना, पुस्तकों को भण्डार में पड़े पड़े सड़ने देना किन्तु उनका सदुपयोग न होने देना, उदर-पोषण को लक्ष्य में रख कर पुस्तकें बेचना, पुस्तक के पत्रों से जूते साफ़ करना, पढ़कर विद्या को बेचना, इत्यादि कामों से ज्ञानावरणकर्म का बन्ध होता है।

इसी प्रकार दर्शनी—साधु आदि तथा दर्शन के साधन इन्द्रियों का नष्ट करना इत्यादि से दर्शनावरणीयकर्म का बन्ध होता है।

आत्मा के परिणाम ही बन्ध और मोक्ष के कारण हैं इसलिये ज्ञानी और ज्ञान-साधनों के प्रति जरा सी भी लापरवाही दिख-लाना, अपना ही घात करना है ; क्योंकि ज्ञान, आत्मा का गुण है, उसके अमर्यादित विकास को प्रकृति ने घेर रक्खा है. यदि प्रकृति के परदे को हटा कर उस अनन्त ज्ञान-शक्ति-रूपिणी देवी के दर्शन करने की लालसा हो, तो उस देवी का और उस से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञानी तथा ज्ञान-साधनों का अन्तःकरण से आदर करो, ज़रासा भी अनादर करोगे तो प्रकृति का घेरा

और भी मज़बूत बनेगा. परिणाम यह होगा कि जो कुछ ज्ञान का विकास इस वक्त तुम में देखा जाता है वह और भी सङ्कुचित हो जायगा. ज्ञान के परिच्छिन्न होने से—उसके मर्यादित होने से ही सारे दुःखों की माला उपस्थित होती है, क्योंकि एक मिनिट के बाद क्या अनिष्ट होनेवाला है यह यदि तुम्हें मालूम हो, तो तुम उस अनिष्ट से बचने की बहुत कुछ कोशिश कर सकते हो. सारांश यह है कि जिस गुण के प्राप्त करने से तुम्हें वास्तविक आनन्द मिलनेवाला है उस गुण के अभिमुख होने के लिये जिन जिन कामों को न करना चाहिये उनको यहाँ दिखलाना दयालु ग्रन्थकार ने ठीक ही समझा।

"सातवेदनीय तथा असातवेदनीय के बन्ध के कारण"

गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ। दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ॥ ५५॥

(गुरुभत्तिखंतिकरुणावयजोगकसायविजयदाणजुओ) गुरु-भक्ति से युक्त, क्षमा से युक्त, करुणा-युक्त, व्रतों से युक्त, योगों से युक्त, कषाय-विजय-युक्त, दान-युक्त और (दढधम्माई) दृढधर्म आदि (सायं) सातवेदनीय का (अज्जइ) उपार्जन करता है, और (विवज्जयओ) विपर्यय से (असायं) असातवेदनीय का उपार्जन करता है॥ ५५॥

भावार्थ—सातवेदनीयकर्म के बन्ध होने में कारण ये हैंः—

(१) गुरुओं की सेवा करना; अपने से जो श्रेष्ठ हैं वे गुरु, जैसे कि माता, पिता, धर्माचार्य, विद्या सिखलानेवाला, ज्येष्ठ भ्राता आदि.

(२) क्षमा करना—अर्थात् अपने में बदला लेने का सामर्थ्य

रहते हुए भी, अपने साथ बुरा वर्ताव करनेवाले के अपराधों को सहन करना।

(३) दया करना—अर्थात् दीन-दुःखियों के दुःखों को दूर करने की कोशिश करना।

(४) अणुव्रतों का अथवा महाव्रतों का पालन करना।

(५) योग का पालन करना—अर्थात् चक्रवाल आदि दस प्रकार की साधु की सामाचारी, जिसे संयमयोग कहते हैं उसका पालन करना।

(६) कषायों पर विजय प्राप्त करना—अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के वेग से अपनी आत्मा को बचाना.

(७) दान करना—सुपात्रों को आहार, वस्त्र आदि का दान करना, रोगियों को औषधि देना, जो जीव, भय से व्याकुल हो रहे हैं, उन्हें भय से छुड़ाना, विद्यार्थियों को पुस्तकों का तथा विद्या का दान करना. अन्न-दान से भी बढ़कर विद्या-दान है; क्योंकि अन्न से क्षणिक तृप्ति होती है परन्तु विद्या-दान से चिर-काल तक तृप्ति होती है. सब दानों से अभय-दान श्रेष्ठ है।

(८) धर्म में—अपनी आत्मा के गुणों में—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में अपनी आत्मा को स्थिर रखना।

गाथा में आदि शब्द है इसलिये वृद्ध, बाल, ग्लान आदि की वैयावृत्य करना, धर्मात्माओं को उनके धार्मिक कृत्य में सहायता पहुँचाना, चैत्य-पूजन करना इत्यादि भी सातवेदनीय के बन्ध में कारण हैं, ऐसा समझना चाहिये।

जिन कृत्यों से सातवेदनीयकर्म का बन्ध कहा गया है उन से उलटे काम करनेवाले जीव असातवेदनीयकर्म को बाँधते हैं; जैसे कि—गुरुओं का अनादर करनेवाला, अपने ऊपर किये हुए

अपकारों का बदला लेनेवाला, क्रूरपरिणामवाला, निर्दय, किसी प्रकार के व्रतका पालन न करनेवाला, उत्कट कषायों-वाला, कृपण—दान न करनेवाला, धर्म के विषय में बेपर्वाह, हाथी-घोड़े-बैल आदि पर अधिक बोझा लादनेवाला, अपने आप को तथा औरों को शोक-सन्ताप हो ऐसा वर्ताव करने-वाला—इत्यादि प्रकार के जीव, असातवेदनीयकर्म का बन्ध करते हैं।

सात का अर्थ है सुख और असात का अर्थ है दुःख. जिस कर्म से सुख हो वह सातवेदनीय—अर्थात् पुण्य. जिस कर्म से दुःख हो, वह असातवेदनीय—अर्थात् पाप।

" दर्शनमोहनीयकर्म के बन्ध के कारण. "

उम्मग्गदेसणामग्गनासणादेवदव्वहरणेहिं ।
दंसणमोहं जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ ॥५६॥

(उम्मग्गदेसणा) उन्मार्ग-देशना—असत् मार्ग का उपदेश, (मग्गनासणा) सत् मार्ग का अपलाप, (देवदव्वहरणेहिं) देव-द्रव्य का हरण—इन कामों से जीव (दंसणमोहं) दर्शनमोह-नीयकर्म को बाँधता है. और वह जीव भी दर्शनमोहनीय को बाँधता है जो (जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ) जिन—तीर्थंकर, मुनि—साधु, चैत्य—जिन-प्रतिमाएँ, संघ—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका—इनके विरुद्ध आचरण करता हो ॥ ५६ ॥

भावार्थ—दर्शनमोहनीयकर्म के बन्ध-हेतु ये हैं:—

(१) उन्मार्ग का उपदेश करना—जिन कृत्यों से संसार की वृद्धि होती है उन कृत्यों के विषय में इस प्रकार का उपदेश करना

कि ये मोक्ष के हेतु हैं; जैसे कि, देवी-देवों के सामने पशुओं की हिंसा करने को पुण्य-कार्य है ऐसा समझाना, एकान्त से ज्ञान अथवा क्रिया को मोक्ष-मार्ग बतलाना, दिवाली जैसे पर्वों पर जुआ खेलना पुण्य है इत्यादि उलटा उपदेश करना।

(२) मुक्ति मार्ग का अपलाप करना—अर्थात् न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है, न आत्मा ही है, खाओ पीओ, ऐशोआराम करो, मरने के बाद न कोई आता है न जाता है, पास में धन न हो तो कर्ज लेकर घी पीओ (ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्), तप करना यह तो शरीर को निरर्थक सुखाना है, आत्मज्ञान की पुस्तकें पढ़ना मानों समय को बरबाद करना है, इत्यादि उपदेश देकर भोले भाले जीवों को सन्मार्ग से हटाना।

(३) देव-द्रव्य का हरण करना—अर्थात् देव-द्रव्य को अपने काम में खर्च करना, अथवा देव-द्रव्य की व्यवस्था करने में बेपर्वाही दिखलाना, या दूसरा कोई उस का दुरुपयोग करता हो तो प्रतिकार का सामर्थ्य रखते हुए भी मौन साध लेना, देव-द्रव्य से अपना व्यापार करना इसी प्रकार ज्ञान-द्रव्य तथा उपाश्रय-द्रव्य का हरण भी समझना चाहिये।

(४) जिनेन्द्र भगवान् की निन्दा करना, जैसे कि दुनियाँ में कोई सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता, समवसरण में छत्र, चामर आदि का उपभोग करने के कारण उनको वीतराग नहीं कह सकते इत्यादि।

(५) साधुओं की निन्दा करना या उन से शत्रुता करना।

(६) जिन-प्रतिमा की निन्दा करना या उसे हानि पहुँचाना।

(७) सङ्घ की—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं की—निन्दा करना या उस से शत्रुता करना।

गाथा में आदि शब्द है इसलिये सिद्ध, गुरु, आगम वगैरह को लेना चाहिये—अर्थात् उनके प्रतिकूल वर्ताव करने से भी दर्शनमोहनीयकर्म का बन्ध होता है।

"चरित्रमोहनीयकर्म के और नरकायु के बन्ध-हेतु."

दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइविसय-विवसमणो। बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥ ५७ ॥

(कसायहासाइविसयविवसमणो) कषाय, हास्य आदि तथा विषयों से जिसका मन पराधीन हो गया है ऐसा जीव, (दुविहंपि) दोनो प्रकार के (चरणमोहं) चारित्रमोहनीय-कर्म को (बंधइ) बाँधता है (महारंभपरिग्गहरओ) महान् आरम्भ और परिग्रह में डूबा हुआ तथा (रुद्दो) रौद्र-परिणाम-वाला जीव, (नरयाउ) नरक की आयु बाँधता है ॥ ५७ ॥

भावार्थ—चारित्रमोहनीय की उत्तर प्रकृतियों में सोलह कषाय, छह हास्य आदि और तीन वेद प्रथम कहे गये हैं।

(१) अनन्तानुबन्धी कषाय के—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ के—उदय से जिसका मन व्याकुल हुआ है ऐसा जीव, सोलहों प्रकार के कषायों को—अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन कषायों को बाँधता है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि चारों कषायों का—क्रोध मान माया लोभ का—एक साथ ही उदय नहीं होता किन्तु चारों में से किसी एक का उदय होता है. इसी प्रकार आगे भी समझना।

अप्रत्याख्यानावरण नामक दूसरे कषाय के उदय से पराधीन हुआ जीव, अप्रत्याख्यान आदि बारह प्रकार के कषायों को बाँधता है, अनन्तानुबन्धियों को नहीं।

प्रत्याख्यानावरणकषायवाला जीव, प्रत्याख्यानावरण आदि आठ कषायों को बाँधता है, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण को नहीं।

सञ्ज्वलनकषायवाला जीव, संज्वलन के चार भेदों को बाँधता है औरों को नहीं।

(२) हास्य आदि नोकषायों के उदय से जो जीव व्याकुल होता है, वह हास्य आदि छह नोकषायों को बाँधता है।

(क) भाँड जैसी चेष्टा करनेवाला, औरों की हँसी करनेवाला, स्वयं हँसनेवाला, बहुत बकवाद करनेवाला जीव, हास्यमोहनीयकर्म को बाँधता है।

(ख) देश आदि के देखने की उत्कण्ठावाला, चित्र खींचनेवाला, खेलनेवाला, दूसरे के मन को अपने आधीन करनेवाला जीव रतिमोहनीयकर्म को बाँधता है।

(ग) ईर्ष्यालु, पाप-शील, दूसरे के सुखों का नाश करनेवाला, बुरे कामों में औरों को उत्साहित करनेवाला जीव अरतिमोहनीयकर्म को बाँधता है।

(घ) खुद डरनेवाला, औरों को डरानेवाला, औरों को त्रास देनेवाला दया-रहित जीव भयमोहनीयकर्म को बाँधता है।

(ङ) खुद शोक करनेवाला औरों को शोक करानेवाला, रोनेवाला जीव शोकमोहनीय को बाँधता है।

(च) चतुर्विध संघ की निन्दा करनेवाला, घृणा करनेवाला, सदाचार की निन्दा करनेवाला जीव, जुगुप्सामोहनीयकर्म को बाँधता है।

(३) स्त्रीवेद आदि के उदय से जीव वेदमोहनीयकर्मों को बाँधता है।

(क) ईर्ष्यालु, विषयों में आसक्त, अतिकुटिल, परस्त्री-लम्पट जीव, स्त्रीवेद को बाँधता है।

(ख) स्व-दार-सन्तोषी, मन्द-कषायवाला, सरल, शीलव्रती जीव पुरुषवेद को बाँधता है।

(ग) स्त्री-पुरुष सम्बन्धी काम-सेवन करनेवाला, तीव्र-विषयाभिलाषी, सती स्त्रियों का शील-भंग करनेवाला जीव नपुंसकवेद को बाँधता है।

नरक की आयु के बन्ध में ये कारण हैं:—

(१) बहुतसा आरम्भ करना, अधिक परिग्रह रखना।

(२) रौद्र परिणाम करना

इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय प्राणियों का वध करना, माँस खाना, वारवार मैथुन-सेवन करना, दूसरे का धन छीनना, इत्यादि कामों से नरक की आयुका वन्ध होता है।

" तिर्यञ्च की आयु के तथा मनुष्य की आयु के बन्ध-हेतु. "

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ। पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ॥ ५८॥

(गूढहियओ) गूढहृदयवाला—अर्थात् जिस के दिल की बात कोई न जान सके ऐसा, (सढो) शठ—जिसकी जवान मीठी हो पर दिल में ज़हर भरा हो ऐसा, (ससल्लो) सशल्य—अर्थात् महत्त्व कम हो जाने के भय से प्रथम किये हुए पाप कर्मों की आलोचना न करनेवाला ऐसा जीव (तिरियाउ) तिर्यंच की आयु बाँधता है. (तहा) उसीप्रकार (पयईइ) प्रकृति से—स्वभाव से ही (तणुकसाओ) तनु—अर्थात् अल्पकषायवाला,

(दाणरुई) दान देने में जिस की रुचि है ऐसा (अ) और (मज्झिमगुणो) मध्यमगुणोंवाला—अर्थात् मनुष्यायु-बन्ध के योग्य क्षमा, मृदुता आदि गुणोंवाला जीव (मणुस्साउ) मनुष्य की आयु को बाँधता है; क्योंकि अधमगुणोंवाला नरकायु को और उत्तमगुणोंवाला देवायु को बाँधता है इसलिये मध्यमगुणोंवाला कहा गया ॥ ५८ ॥

" इस गाथा में देवायु, शुभनाम और अशुभनाम के बन्ध-हेतुओं को कहते हैं. "

अविरयमाइ सुराउं बालतवोकामनिज्जरो जयइ । सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥ ५९ ॥

(अविरयमाइ) अविरत आदि, (बालतवोकामनिज्जरो) बालतपस्वी तथा अकामनिर्जरा करनेवाला जीव (सुराउं) देवायु का (जयइ) उपार्जन करता है. (सरलो) निष्कपट और (अगारविल्लो) गौरव-रहित जीव (सुहनामं) शुभनाम को बाँधता है (अन्नहा) अन्यथा—विपरीत – कपटी और गौरववाला जीव अशुभनाम को बाँधता है ॥ ५९ ॥

भावार्थ—जो जीव देवायु को बाँधते हैं वे ये हैं:—

(१) अविरतसम्यग्दृष्टि मनुष्य अथवा तिर्यंच, देशविरत—अर्थात् श्रावक और सराग-संयमी साधु.

(२) बाल-तपस्वी—अर्थात् आत्म-स्वरूप को न जानकर अज्ञान पूर्वक कायक्लेश आदि तप करनेवाला मिथ्यादृष्टि.

(३) अकामनिर्जरा—अर्थात् इच्छा के न होते हुए भी जिस के कर्म की निर्जरा हुई है ऐसा जीव. तात्पर्य यह है कि अज्ञान

स भूख, प्यास, ठँडी, गरमी को सहन करना; स्त्री की अप्राप्ति से शील को धारण करना इत्यादि से जो कर्म की निर्जरा होती है उसे 'अकामनिर्जरा' कहते हैं।

जो जीव शुभनामकर्म को बाँधते हैं वे ये हैं:—

(१) सरल—अर्थात् माया-रहित, मन-वाणी-शरीर का व्यापार जिस का एकसा हो ऐसा जीव, शुभनाम को बाँधता है.

(२) गौरव-रहित—तीन प्रकार का गौरव है:—ऋद्धि-गौरव, रस-गौरव और सात-गौरव. ऋद्धि का अर्थ है ऐश्वर्य—धनसम्पत्ति, उस से अपने को महत्त्वशाली समझना, यह ऋद्धिगौरव है. मधुर-आम्ल आदि रसों से अपना गौरव समझना, यह रसगौरव है. शरीर के आरोग्य का अभिमान रखना सातगौरव है. इन तीनों प्रकार के गौरव से रहित जीव शुभनामकर्म को बाँधता है.

इसी प्रकार पाप से डरनेवाला, क्षमावान्, मार्दव आदि गुणों से युक्त जीव शुभनाम को बाँधता है. जिन कृत्यों से शुभनामकर्म का बन्धन होता है उन से विपरीत कृत्य करनेवाले जीव अशुभ-नामकर्म को बाँधते हैं, जैसे कि;—

मायावी—अर्थात् जिन के मन, वाणी और आचरण में भेद हो: दूसरों को ठगनेवाले, झूठी गवाही देनेवाले, घी में चर्बी और दूध में पानी मिलाकर बेचनेवाले, अपनी तारीफ और दूसरों की निन्दा करनेवाले; वेश्याओं को वस्त्र-अलंकार आदि देनेवाले; देव-द्रव्य, उपाश्रय-द्रव्य और ज्ञानद्रव्य को खानेवाले या उनका दुरुपयोग करनेवाले ये जीव अशुभनाम को—अर्थात् नरकगति-अयशःकीर्ति-एकेन्द्रियजाति आदि कर्मों को बाँधते हैं।

" गोत्रकर्म के बन्ध-हेतु."

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणज्झावणारुई निच्चं। पकुणइ जिणाइभत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ॥ ६० ॥

(गुणपेही) गुण-प्रेक्षी—गुणों को देखनेवाला, (मयरहिओ) मद-रहित—जिसे अभिमान न हो, (निच्चं) नित्य (अज्झयणज्झावणारुई) अध्ययनाध्यापनरुचि—पढ़ने पढ़ाने में जिसकी रुचि है, (जिणाइभत्तो) जिन भगवान् आदि का भक्त ऐसा जीव (उच्चं) उच्चगोत्र का (पकुणइ) उपार्जन करता है. (इयरहा उ) इतरथा तु—इस से विपरीत तो (नीयं) नीचगोत्र को बाँधता है ॥ ६० ॥

भावार्थ—उच्चगोत्रकर्म के बाँधनेवाले जीव इस प्रकार के होते हैं:—

(१) किसी व्यक्ति में दोषों के रहते हुए भी उनके विषय में उदासीन, सिर्फ गुणों को ही देखनेवाले (२) आठ प्रकार के मदों से रहित—अर्थात् १ जातिमद, २ कुलमद, ३ बलमद, ४ रूपमद, ५ श्रुतमद, ६ ऐश्वर्यमद, ७ लाभमद और ८ तपोमद—इनसे रहित. (३) हमेशः पढ़ने-पढ़ाने में जिन का अनुराग हो, ऐसे जीव (४) जिनेन्द्रभगवान्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, माता, पिता तथा गुणवानों की भक्ति करनेवाले जीव, ये उच्चगोत्र को बाँधते हैं।

जिन कृत्यों से उच्चगोत्र का बन्धन होता है उनसे उलटे काम करनेवाले जीव नीचगोत्र को बाँधते हैं—अर्थात् जिन में गुण-दृष्टि न होकर दोषदृष्टि हो; जाति-कुल आदि का अभिमान करनेवाले, पढ़ने-पढ़ाने से जिन्हें घृणा हो; तीर्थंकर-सिद्ध

आदि महा-पुरुषों में जिन की भक्ति न हो, ऐसे जीव नीचगोत्र को बाँधते हैं।

" अन्तरायकर्म के बन्ध-हेतु तथा ग्रन्थ-समाप्ति. "

जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं। इय कम्मविवागोयं लिहिओ देविंदसूरिहिं ॥ ६१ ॥

(जिणपूयाविग्घकरो) जिनेन्द्र की पूजा में विघ्न करनेवाला तथा (हिंसाइपरायणो) हिंसा आदि में तत्पर जीव (विग्घं) अन्तरायकर्म का (जयइ) उपार्जन करता है. (इय) इस प्रकार (देविंदसूरिहिं) श्रीदेवेन्द्रसूरिने (कम्मविवागोयं) इस 'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ को (लिहिओ) लिखा ॥ ६१ ॥

भावार्थ—अन्तरायकर्म को बाँधनेवाले जीवः—जो जीव जिनेन्द्र की पूजा का यह कह कर निषेध करते हैं कि जल, पुष्प, फलों की हिंसा होती है अतएव पूजा न करना ही अच्छा है; तथा हिंसा, झूठ, चोरी, रात्रि-भोजन करनेवाले; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्ग में दोष दिखला कर भव्य-जीवों को मार्ग से च्युत करनेवाले; दूसरों के दान-लाभ-भोग-उपभोग में विघ्न करनेवाले; मन्त्र आदि के द्वारा दूसरों की शक्ति को हरनेवाले ये जीव अन्तराय कर्म को बाँधते हैं।

इस प्रकार श्रीदेवेन्द्रसूरि ने इस कर्मविपाक-नामक कर्मग्रन्थ की रचना की, जो कि चान्द्रकुल के तपाचार्य श्रीजगच्चन्द्रसूरि के शिष्य हैं।

॥ इति कर्मविपाक-नामक पहला कर्मग्रंथ ॥

परिशिष्ट ।

प्रकृतिभेद—इसमें प्रकृति शब्द के दो अर्थ किये गये हैं —(१) स्वभाव और (२) समुदाय। श्वेताम्बरीय कर्मसाहित्य में ये दोनों अर्थ पाये जाते हैं। यथा:—

प्रकृतिस्तु स्वभावः स्याद् ज्ञानावृत्यादिकर्मणाम् ।
यथा ज्ञानाच्छादनादिः स्थितिः कालविनिश्चयः ॥

[लोकप्रकाश स० १०—श्लो० १३७.]

तथा

ठिइबंधदलस्सठिई पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताणरसो अणुभागो तस्समुदायो पगइबंधो ॥१॥

[प्राचीन]—

परन्तु दिगम्बरीय साहित्य में प्रकृति शब्द का केवल स्वभाव अर्थ ही उल्लिखित मिलता है। यथा:—

"प्रकृतिः स्वभावः" इत्यादि ।

[तत्त्वार्थ अ० ८—सू० ३ सर्वार्थसिद्धि]

"प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्"

[तत्त्वार्थ अ० ८—सू० ३ राजवार्त्तिक]

"पयडी सीलसहावो" इत्यादि ।

[कर्मकाण्ड गा० २]

इस में जानने योग्य बात यह है कि स्वभाव-अर्थ-पक्ष में तो अनुभागबन्ध का मतलब कर्म की फल-जनक शक्ति की शुभा-

शुभता तथा तीव्रता-मन्दता से ही है, परन्तु समुदाय-अर्थ-पक्ष में यह बात नहीं। उस पक्ष में अनुभागवन्ध से कर्म की फल-जनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मन्दता—इतना अर्थ विवक्षित है। क्योंकि उस पक्ष में कर्म का स्वभाव (शक्ति) अर्थ भी अनुभागवन्ध शब्द से ही लिया जाता है।

कर्म के मूल आठ तथा उत्तर १४८ भेदों का जो कथन है, सो माध्यमिक विवक्षा से; क्योंकि वस्तुतः कर्म के असंख्यात प्रकार हैं। कारणभूत अध्यवसायों में असंख्यात प्रकार का तरतमभाव होने से तज्जन्य कर्मशक्तियाँ भी असंख्यात प्रकार की ही होती हैं, परन्तु उन सब का वर्गीकरण, आठ या १४८ भागों में इसलिये किया है कि जिससे सर्व साधारण को समझने में सुभीता हो, यही बात गोम्मटसार में भी कही है:—

"तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा। ताणं पुण घादित्ति अघादित्ति य होंति सण्णाओ॥"

[कर्मकाण्ड—गा० ७]

आठ कर्मप्रकृतियों के कथन का जो क्रम है उसकी उपपत्ति पञ्चसंग्रह की टीका में, कर्मविपाक की टीका में, श्रीजयसोम-सूरि-कृत टबे में तथा श्री जीवविजयजी-कृत बालावबोध में इस प्रकार दी हुई है:—

उपयोग, यह जीव का लक्षण है, इसके ज्ञान और दर्शन दो भेद हैं जिनमें से ज्ञान प्रधान माना जाता है। ज्ञान से कर्मविषयक शास्त्र का या किसी अन्य शास्त्र का विचार किया जा सकता है। जब कोई भी लब्धि प्राप्त होती है तब जीव ज्ञानोपयोग-युक्त ही होता है। मोक्ष की प्राप्ति भी ज्ञानोपयोग के समय में ही होती

है। अतएव ज्ञान के आवरण-भूत कर्म, ज्ञानावरण का कथन सब से पहले किया गया है। दर्शन की प्रवृत्ति, मुक्त जीवों को ज्ञान के अनन्तर होती है; इसीसे दर्शनावरणीयकर्म का कथन पीछे किया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों के तीव्र उदय से दुःख का तथा उनके विशिष्ट क्षयोपशम से सुख का अनुभव होता है; इसलिये वेदनीयकर्म का कथन, उक्त दो कर्मों के बाद किया गया है। वेदनीयकर्म के अनन्तर मोहनीयकर्म के कहने का आशय यह है कि सुख-दुःख वेदने के समय अवश्य ही राग-द्वेष का उदय हो आता है। मोहनीय के अनन्तर आयु का पाठ इसलिये है कि मोह-व्याकुल जीव आरम्भ आदि करके आयु का बन्ध करता ही है। जिसको आयु का उदय हुआ उसे गति आदि नामकर्म भी भोगने पड़ते ही हैं—इसी बात को जनाने के लिये आयु के पश्चात् नामकर्म का उल्लेख है। गति आदि नामकर्म के उदयवाले जीव को उच्च या नीचगोत्र का विपाक भोगना पड़ता है इसीसे नाम के बाद गोत्रकर्म है। उच्च-गोत्रवाले जीवों को दानान्तराय आदि का क्षयोपशम होता है और नीचगोत्र-विपाकी जीवों को दानान्तराय आदि का उदय रहता है—इसी आशय को जनाने के लिये गोत्र के पश्चात् अन्तराय का निर्देश किया है।

गोम्मटसार में दी हुई उपपत्ति भी लगभग वैसी ही है, परन्तु उसमें जानने योग्य बात यह है:—अन्तरायकर्म, घाति होने पर भी सबसे पीछे—अर्थात् अघातिकर्म के पीछे कहने का आशय इतना ही है कि वह कर्म घाति होने पर भी अघाति-कर्मों की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नहीं करता तथा उसका उदय, नाम आदि अघातिकर्मों के निमित्त से होता है। तथा वेदनीय अघाति होने पर भी उसका पाठ घातिकर्मों के बीच, इसलिये किया गया है कि वह घातिकर्म की तरह मोह-

नीय के बल से जीव के गुण का घात करता है—देखो, क० गा-१७-१९।

अर्थावग्रह के नैश्चयिक और व्यावहारिक दो भेद शास्त्र में उल्लिखित पाये जाते हैं—(देखो तत्त्वार्थ-टीका पृ० ५७)। जिनमें से नैश्चयिक अर्थावग्रह, उसे समझना चाहिये जो व्यंजनावग्रह के बाद, पर ईहा के पहले होता है तथा जिसकी स्थिति एक समय की बतलाई गई है।

व्यावहारिक अर्थावग्रह, अवाय (अपाय) को कहते हैं; पर सब अवाय को नहीं किन्तु जो अवाय ईहा को उत्पन्न करता है उसीको। किसी वस्तु का अव्यक्त ज्ञान (अर्थावग्रह) होने के बाद उसके विशेष धर्म का निश्चय करने के लिये ईहा (विचारणा या सम्भावना) होती है अनन्तर उस धर्म का निश्चय होता है वही अवाय कहलाता है। एक धर्म का अवाय हो जाने पर फिर दूसरे धर्म के विषय में ईहा होती है और पीछे से उसका निश्चय भी हो जाता है। इस प्रकार जो जो अवाय, अन्य धर्म विषयक ईहा को पैदा करता है वह सब, व्यावहारिक अर्थावग्रह में परिगणित है। केवल उस अवाय को अवग्रह नहीं कहते जिसके अनन्तर ईहा उत्पन्न न हो कर धारणा ही होती है।

अवाय को अर्थावग्रह कहने का सबब इतना ही है कि यद्यपि है वह किसी विशेष धर्म का निश्चयात्मक ज्ञान ही, तथापि उत्तरवर्ती अवाय की अपेक्षा पूर्ववर्ती अवाय, सामान्य विषयक होता है। इसलिये वह सामान्य विषयक-ज्ञानस्वरूप से नैश्चयिक अर्थावग्रह के तुल्य है। अतएव उसे व्यावहारिक अर्थावग्रह कहना असंगत नहीं।

यद्यपि 'जिस शब्द के अन्त में विभक्ति आई हो उसे या जितने भाग में अर्थ की समाप्ति होती हो उसे पद कहा है,

तथापि पद-श्रुत में पद का मतलब ऐसे पद से नहीं है, किन्तु सांकेतिक पद से है। आचाराङ्ग आदि आगमों का प्रमाण ऐसे ही पदों से गिना जाता है (देखो, लोकप्रकाश, स० ३ श्लो० ८२७)। कितने श्लोकों का यह सांकेतिक पद माना जाता है इस बात का पता तादृश सम्प्रदाय नष्ट होने से नहीं चलता—ऐसा टीका में लिखा है पर कहीं यह लिखा मिलता है कि प्रायः ५१,०८,८६,८४० श्लोकों का एक पद होता है।

पदश्रुत में पद शब्द का सांकेतिक अर्थ दिगम्बर-साहित्य में भी लिया गया है। आचाराङ्ग आदि का प्रमाण ऐसे ही पदों से उस में भी माना गया है, परन्तु उस में विशेषता यह देखी जाती है कि श्वेताम्बर-साहित्य में पद के प्रमाण के सम्बन्ध में सब आचार्य, आमनाय का विच्छेद दिखाते हैं, तब दिगम्बर-शास्त्र में पद का प्रमाण स्पष्ट लिखा पाया जाता है। गोम्मटसार में १६३४ करोड़, ८३ लाख, ७ हज़ार ८८८ अक्षरों का एक पद माना है। बत्तीस अक्षरों का एक श्लोक मानने पर उतने अक्षरों के ५१, ०८, ८४, ६२१॥ श्लोक होते हैं; यथाः—

सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।
सत्तसहस्साट्ठसया अट्ठासीदी य पदवण्णा॥

(जीवकाण्ड. गा० ३३५)

इस प्रमाण में ऊपर लिखे हुए उस प्रमाण से बहुत फेर नहीं है जो श्वेताम्बर-शास्त्र में कहीं कहीं पाया जाता है, इस से पद के प्रमाण के सम्बन्ध में श्वेताम्बर-दिगम्बर-साहित्य की एक वाक्यता ही सिद्ध होती है।

मनःपर्यायज्ञान के ज्ञेय (विषय) के सम्बन्ध में दो प्रकार का उल्लेख पाया जाता है। पहले में यह लिखा है कि मनःपर्याय,

ज्ञानी, मनःपर्यायज्ञान से दूसरों के मनमें व्यवस्थित पदार्थ को—चिन्त्यमान पदार्थ को जानता है, परन्तु दूसरा उल्लेख यह कहता है कि मनःपर्यायज्ञान से चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान नहीं होता, किन्तु विचार करने के समय, मन की जो आकृतियाँ होती हैं उन्हीं का ज्ञान होता है और चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान पीछे से अनुमान द्वारा होता है। पहला उल्लेख दिगम्बरीय साहित्य का है—(देखो, सर्वार्थसिद्धि पृ०१२४, राजवार्तिक पृ० ५८ और जीवकाण्ड-गा० ४३७-४४७) और दूसरा उल्लेख श्वेताम्बरीय साहित्य का है—(देखो, तत्त्वार्थ अ० १ सू० २४ टीका, आवश्यक गा० ७६ की टीका, विशेषावश्यकभाष्य पृ० ३९० गा० ८१३-८१४ और लोकप्रकाश स० ३ श्लो० ८४९ से.)।

अवधिज्ञान तथा मनःपर्यायज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गोम्मटसार का जो मन्तव्य है वह श्वेताम्बर-साहित्य में कहीं देखने में नहीं आया। वह मन्तव्य इस प्रकार है:—

अवधिज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन्हीं प्रदेशों से होती है जो कि शंखआदि-शुभ-चिह्नवाले अङ्गों में वर्तमान होते हैं, तथा मनःपर्यायज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन प्रदेशों से होती है जिनका कि सम्बन्ध द्रव्यमन के साथ है—अर्थात् द्रव्यमन का स्थान हृदय ही है इसलिये, हृदय-भाग में स्थित आत्मा के प्रदेशों ही में मनःपर्यायज्ञान का क्षयोपशम है; परन्तु शंख आदि शुभ चिह्नों का सम्भव सभी अङ्गों में हो सकता है इसकारण अवधिज्ञान के क्षयोपशम की योग्यता, किसी खास अङ्ग में वर्तमान आत्मप्रदेशों ही में नहीं मानी जा सकती; यथाः—

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा॥

(जीवकाण्ड-गा० ४४१)

द्रव्यमन के सम्बन्ध में भी जो कल्पना दिगम्बर-सम्प्रदाय में है वह श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में नहीं ; सो इस प्रकार है:—

द्रव्यमन, हृदय में ही है उसका आकार आठ पत्र वाले कमल का सा है। वह मनोवर्गणा के स्कन्धों से बनता है उसके बनने में अंतरंग कारण अङ्गोपाङ्गनामकर्म का उदय है; यथा:—

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा।
अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा॥

(जीवकाण्ड—गा० ४४२)

इस ग्रन्थ की १२ वीं गाथा में स्त्यानगृद्धिनिद्रा का स्वरूप कहा गया है। उस में जो यह कहा है कि "स्त्यानगृद्धिनिद्रा के समय, वासुदेव जितना बल प्रकट होता है, सो वज्रऋषभनाराच-संहनन की अपेक्षा से जानना। अन्य संहनन वालों को उस निद्रा के समय, वर्तमान युवकों के बल से आठ गुना बल होता है"—यह अभिप्राय कर्मग्रन्थ-वृत्ति आदि का है। जीतकल्प-वृत्ति में तो इतना और भी विशेष है कि "वह निद्रा, प्रथमसंहनन के सिवाय अन्य संहनन वालों को होती ही नहीं और जिस को होने का सम्भव है वह भी उस निद्रा के अभाव में अन्य मनुष्यों से तीन चार गुना अधिक बल रखता है"—देखो, लोकप्रकाश स० १० श्लो० १५०।

मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुंजों की समानता छाछ से शोधे हुये शुद्ध, अशुद्ध और अर्धविशुद्ध कोदों के साथ, की गई है। परन्तु गोम्मटसार में इन तीन पुंजों को समझने के लिये चक्की से पीसे हुये कोदों का दृष्टान्त दिया गया है। उसमें चक्की से पीसे हुये कोदों के भूसे के साथ अशुद्ध पुंज की, तडुले क

साथ शुद्ध पुंज की और कण के साथ अर्धविशुद्ध पुंज की बराबरी की गई है। प्राथमिक उपशमसम्यक्त्व-परिणाम (ग्रन्थि-भेद-जन्य सम्यक्त्व) जिससे मोहनीय के दलिक शुद्ध होते हैं उसे चक्की-स्थानीय माना है—(देखो, कर्मकाण्ड गा० २६)।

कषाय के ४ विभाग किये हैं, सो उसके रस की (शक्ति की) तीव्रता-मन्दता के आधार पर। सब से अधिक-रसवाले कषाय को अनन्तानुबन्धी, उससे कुछ कम-रसवाले कषाय को अप्रत्याख्यानावरण, उससे भी मन्दरसवाले कषाय को प्रत्याख्यानावरण और सब से मन्दरसवाले कषाय को संज्वलन कहते हैं।

इस ग्रन्थ की गाथा १८ वीं में उक्त ४ कषायों का जो काल-मान कहा गया है वह उनकी वासना का समझना चाहिये। वासना, असर (संस्कार) को कहते हैं। जीवन-पर्यन्त स्थिति-वाले अनन्तानुबन्धी का मतलब यह है कि वह कषाय इतना तीव्र होता है कि जिसका असर जिन्दगी-तक बना रहता है। अप्रत्याख्यानावरणकषाय का असर वर्ष-पर्यन्त माना गया है। इस-प्रकार अन्य कषायों की स्थिति के प्रमाण को भी उनके असर की स्थिति का प्रमाण समझना चाहिये। यद्यपि गोम्मटसार में बतलाई हुई स्थिति, कर्मग्रन्थ-वर्णित स्थिति से कुछ भिन्न है तथापि उसमें (कर्मकाण्ड-गाथा ४६ में) कषाय के स्थिति-काल को वासनाकाल स्पष्टरूप से कहा है। यह ठीक भी जान पड़ता है। क्योंकि एक बार कषाय हुआ कि पीछे उसका असर थोड़ा बहुत रहता ही है। इसलिये उस असर की स्थिति ही को कषाय की स्थिति कहने में कोई विरोध नहीं है।

कर्मग्रन्थ में और गोम्मटसार में कषायों को जिन जिन पदार्थों की उपमा दी है वे सब एक ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि प्रत्याख्यानावरण लोभ को गोम्मटसार में शरीर के

मल की उपमा दी है और कर्मग्रन्थ में खंजन (कज्जल) की उपमा दी है—(देखो, जीवकाण्ड, गाथा २८६)।

पृष्ठ ५७ में अपवर्त्य आयु का स्वरूप दिखाया है इसके वर्णन में जिस मरण को 'अकालमरण' कहा है उसे गोम्मट-सार में 'कदलीघातमरण' कहा है। यह कदलीघात शब्द अकालमृत्यु-अर्थ में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता।

[कर्मकाण्ड, गाथा ५७]—

संहनन शब्द का अस्थिनिचय (हड्डियों की रचना) यह अर्थ जो किया गया है सो कर्मग्रन्थ के मतानुसार। सिद्धान्त के मतानुसार संहनन का अर्थ शक्ति-विशेष है; यथाः—

"सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणमिहट्ठिनिचउ त्ति"

[प्राचीन तृतीय कर्मग्रन्थ-टीका पृ० ९९]

कर्मविषयक साहित्य की कुछ ऐसी संज्ञाएँ नीचे दी जाती हैं कि जिनके अर्थ में श्वेताम्बर-दिगम्बर-साहित्य में थोड़ा बहुत भेद दृष्टि-गोचर होता हैः—

श्वेताम्बर।	दिगम्बर।
प्रचलाप्रचलानिद्रा, वह है जो मनुष्य को चलते-फिरते भी आती है।	प्रचलाप्रचला—इसका उदय जिस आत्मा को होता है उस के मुँह से लार टपकती है तथा उसके हाथ-पाँव-आदि अंग काँपते हैं।
निद्रा, उस निद्रा को कहते हैं जिसमें सोता हुआ मनुष्य अनायास उठाया जा सके।	निद्रा—इसके उदय से जीव चलते चलते खड़ा रह जाता है और गिर भी जाता है—(देखो, कर्म० गा० २४)।

श्वेताम्बर।	दिगम्बर।
प्रचला, वह निद्रा है जो खड़े हुये या बैठे हुये प्राणी को भी आती है।	प्रचला—इसके उदय से प्राणी नेत्र को थोड़ा मूँद कर सोता है, सोता हुआ भी थोड़ा ज्ञान करता रहता है और बारबार मन्द निद्रा लिया करता है—(कर्म० गा० २५)।
गतिनामकर्म से मनुष्य-नारक-आदि पर्याय की प्राप्ति मात्र होती है।	गतिनामकर्म, उस कर्मप्रकृति को कहा है जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को जाता है।
निर्माणनामकर्म का कार्य अङ्गोपाङ्गों को अपने अपने स्थान में व्यवस्थित करना इतना ही माना गया है।	निर्माणनामकर्म—इसके स्थान-निर्माण और प्रमाण-निर्माण ऐसे दो भेद मान कर इनका कार्य अङ्गोपाङ्गों को यथास्थान व्यवस्थित करने के उपरान्त उनको प्रमाणोपेत बनाना भी माना गया है।
आनुपूर्वीनामकर्म, समश्रेणि से गमन करते हुये जीव को खींच कर, उसे उसके विश्रेणि-पतित उत्पत्ति-स्थान को पहुँचाता है।	आनुपूर्वीनामकर्म — इसका प्रयोजन पूर्व शरीर छोड़ने के बाद और नया शरीर धारण करने के पहले,—अर्थात् अन्तरालगति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखना है।

श्वेताम्बर ।	दिगम्बर ।
उपघातनामकर्म—मतभेद से इसके दो कार्य हैं। पहला तो यह कि गले में फांसी लगा कर या कहीं ऊँचे से गिरकर अपने ही आप आत्म-हत्या की चेष्टा द्वारा दुःखी होना; दूसरा, पड़जीभ, रसौली, छठी उँगली, बाहर निकले हुए दांत आदि से तकलीफ पाना- (श्रीयशोविजयजी-कृत, कम्मपयडी-व्याख्या पृ० ५)।	उपघातनामकर्म-इसके उदय से प्राणी, फांसी आदि से अपनी हत्या कर लेता और दुःख पाता है।
शुभनामकर्म से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।	शुभनाम-यह कर्म, रमणीयता का कारण है।
अशुभनामकर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव अशुभ होते हैं।	अशुभनामकर्म, इसका उदय कुरूप का कारण है।
स्थिरनामकर्म के उदय से सिर, हड्डी, दांत आदि अवयवों में स्थिरता आती है।	स्थिरनामकर्म, इसके उदय से शरीर में तथा धातु-उपधातु में स्थिरभाव बना रहता है जिस से कि उपसर्ग-तपस्या-आदि-जन्य कष्ट सहन किया जा सकता है।
अस्थिरनामकर्म—सिर, हड्डी दांत आदि अवयवों में अस्थिरता इसी कर्म से आती है।	अस्थिरनामकर्म, इस से अस्थिर भाव पैदा होता है जिस से थोड़ा भी कष्ट सहन किया नहीं जा सकता।

श्वेताम्बर।	दिगम्बर।
जो कुछ कहा जाय उसे लोग प्रमाण समझ कर मान लेते और सत्कार आदि करते हैं, यह आदेयनामकर्म का फल है। अनादेयनामकर्म का कार्य, उस से उलटा ही है—अर्थात् हितकारी वचन को भी लोक प्रमाणरूप नहीं मानते और न सत्कार आदि ही करते हैं।	आदेयनामकर्म, इस के उदय से शरीर, प्रभा-युक्त बनता है। इसके विपरीत अनादेयनामकर्म से शरीर, प्रभा-हीन होता है।
दान-तप-शौर्य-आदि-जन्य यश से जो प्रशंसा होती है उसका कारण यशःकीर्तिनामकर्म है। अथवा एक दिशा में फैलनेवाली ख्याति को कीर्ति और सब दिशाओं में फैलनेवाली ख्याति को यशः कहते हैं। इसी तरह दान-पुण्य-आदि से होनेवाली महत्ता को यशः कहते हैं। कीर्ति और यशः का सम्पादन यशःकीर्तिनामकर्म से होता है।	यशःकीर्तिनामकर्म, यह पुण्य और गुणों के कीर्तन का कारण है।

कुछ संज्ञाएँ ऐसी भी ह जिन के स्वरूप में दोनों सम्प्रदायों में किंचित् परिवर्त्तन हो गया हैः—

श्वेताम्बर।	दिगम्बर।
सादि, साचिसंहनन।	स्वातिसंहनन।

श्वेताम्वर।	दिगम्वर।
ऋषभनाराच।	वज्रनाराचसंहनन।
कीलिका।	किलित।
सेवार्त।	असंप्राप्तासृपाटिका।

कोष.

अ

गाथा-अङ्क. प्राकृत.	संस्कृत.	हिन्दी.
३४—अंग	अङ्ग	शरीर का अवयव पृ० ७५.
४७—अंग	अङ्ग	शरीर.
६—अंगपविट्ठ	अङ्गप्रविष्ट	'अङ्ग' नाम के आचाराङ्ग आदि १२ * आगम.
३४—अंगुली	अङ्गुली	उँगली.
३४—अंगोवंग	अङ्गोपाङ्ग	रेखा, पर्व आदि.
४८—अंगोवंग	अङ्गोपाङ्ग	अङ्ग तथा उपाङ्ग.
१९—अंतमुहु	अन्तर्मुहूर्त्त	९ समय से लेकर एक समय कम दो घड़ी प्रमाण काल.
५४—अंतराअ	अन्तराय	रुकावट.
४१—अंबिल	अम्ल	आम्लरसनामकर्म पृ० ८७.

* यथा:—(१) आचार, (२) सूत्रकृत, (३), स्थान, (४) समवाय, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञातधर्मकथा, (७) उपासकाध्ययनदशा, (८) अन्तकृद्दशा, (९) अनुत्तरोपपातिकदशा, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाकसूत्र और (१२) दृष्टिवाद।

गा० प्रा०	सं०	हिं०
५९—अकामनिज्जर	अकामनिर्जर	बिना इच्छा के कष्ट सहकर कर्म की निर्जरा करनेवाला.
७,६—अक्खर	अक्षर	अक्षरश्रुत पृ० १७-२२.
५१—अगारविल्ल	अगौरववत्	निरभिमान पृ० १२२.
४७,२५—अगुरुलहु	अगुरुलघु	अगुरुलघुनामकर्म पृ० ९४.
२९—अगुरुलहुचउ	अगुरुलघुचतुष्क	अगुरुलघु-आदि ४ प्रकृतियाँ. पृ० ६६.
१०—अचक्खु	अचक्षुस्	अचक्षुर्दर्शन पृ० ३१.
५४—अच्चासायणया	अत्याशातना	अवहेलना.
२७—अजस	अयशस्	अयशःकीर्तिना० पृ० १०४.
१५—अजिय	अजीव	अजीव-तत्व पृ० ४२.
५५—अज्जइ	अर्ज्—अर्जयति	अर्जन करता है.
६०—अज्झयण	अध्ययन	पढ़ना.
६०—अज्झावणा	अध्यापना	पढ़ाना.
४१,३०,२५,२—अट्ठ	अष्टन्	आठ.
५—अट्ठवीस	अष्टाविंशति	अट्ठाईस.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
५०,३८—अट्ठि	अस्थि	हड्डी.
१६—अट्ठिय	अस्थिक	,,
३२—अट्ठवन्न	अष्टपञ्चाशत्	अट्ठावन.
३१—अडवीस	अष्टाविंशति	अट्ठाईस.
२—अडवन्नसय	अष्टापञ्चाशच्छत	एक सौ अट्ठावन.
१७—अण	अन	अनन्तानुबन्धी पृ० ४७.
२७—अणाइज्ज	अनादेय	अनादेयनामकर्म पृ० १०४.
१८—अणु	अणु	देश–अल्प.
७—अणुओग	अनुयोग	श्रुतज्ञान-विशेष पृ० २३.
८—अणुगामि	अनुगामिन्	अवधिज्ञान-विशेष पृ० २५.
४३,२४—अणुपुव्वी	आनुपूर्वी	आनुपूर्वीनामकर्म पृ० ६६-८९.
४६—अणुसिण	अनुष्ण	अनुष्ण.
५—अत्थुग्गह	अर्थावग्रह	एक तरहका मतिज्ञान पृ० १३.
२७—अथिर	अस्थिर	अस्थिरनामकर्म पृ० १०३.
२८—अथिरछक्क	अस्थिरषट्क	अस्थिर आदि ६ प्रकृतियाँ पृ० ६३
६२—अद्ध	अर्ध	आधा.

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३८	—अद्धनाराय	अर्धनाराच	चौथा संहनन पृ० ८२.
१२	—अद्धचक्कि	अर्धचाक्रिन्	वासुदेव.
१४	—अद्धविसुद्ध	अर्धविशुद्ध	आधा शुद्ध.
१६	—अन्न	अन्न	अनाज.
२९	—अन्न	अन्य	दूसरा.
५६,२१	—अन्नहा	अन्यथा	अन्य प्रकार से.
१७	—अपचक्खाण	अप्रत्याख्यान	अप्रत्याख्यानावरण पृ० ४७.
२७	—अपज्ज	अपर्याप्त	अपर्याप्तनामकर्म पृ० १०३.
१८	—अमर	अमर	देव.
२१	—अरइ	अरति	अरतिमोहनीय पृ० ५४.
४८	—अवयव	अवयव	शरीरका एक देश.
२०	—अवलेहि	अवलेखिका	बाँस का छिलका.
५	—अवाय	अपाय	एक तरह का मतिज्ञान पृ० १४.
२६	—अवि	अपि	भी.
५९	—अविरय	अविरत	अविरतसम्यग्दृष्टि.
१४	—अविसुद्ध	अविशुद्ध	अशुद्ध.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
५५,१३—असाय	असात	असातवेदनीय पृ० ३५.
२७—असुभ	अशुभ	अशुभनामकर्म पृ० १०३.
४३—असुह	अशुभ	अप्रशस्त.
५९—असुह	अशुभ	अशुभनामकर्म पृ० १०३.
४२—असुहनवग	अशुभनवक	नीलवर्ण आदि ९ अशुभ प्रकृतियाँ पृ० ८८.
१८—अहक्खायचरित्त	यथाख्यातचारित्र	परिपूर्ण—निर्विकार—संयम.
२२—अहिलास	अभिलाप	चाह.

आ

गा० प्रा०	सं०	हिं०
३५,२९,२८,२१,१५ ५२,५०,४८,४६,३६ ६१,६०,५९,५७,५३ } आइ	आदि	वगैरह.
५१,२६—आइज्ज	आदेय	आदेयनामकर्म पृ० १०२.
४३,२६,३—आउ	आयुस्	आयुकर्म पृ० ६.
४५,२५—आयव	आतप	आतपनामकर्म पृ० ९२.

गा० प्रा०	सं०	हि०
१,२—आवरण	आवरण	आच्छादन.
५४—आवरणदुग	आवरणद्विक	ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्म.
१५—आसव	आस्रव	आस्रव-तत्त्व. पृ० ४२.
३३—आहारग	आहारक	आहारकशरीरनामकर्म पृ० ७४.
३७—आहारय	आहारक	आहारकशरीर

इ

३३—इंदि	इन्द्रिय	इन्द्रिय.
१०—इंदिय	"	"
४—इंदियचउक्क	इन्द्रियचतुष्क	त्वचा, रसन घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ.
४२—इक्कारसग	एकादशन्	ग्यारह.
३३,८—इग	एक	एक
२६—इच्चाइ	इत्यादि	इत्यादि.
५०—इट्ठ	इष्ट	प्रिय
२२—इत्थी	स्त्री	स्त्री.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
६१—	इम { अयं	अयं	यह.
३९,२६—	इमं	इदम्	यह.
९—	एसिं	एषां	इन का.
२९,२७,२५,५— ६१,३२,३०—	इय	इति	इसप्रकार.
३७,८—इयर		इतर	अन्य.
६०—इयरहा		इतरथा	अन्य प्रकार से.
५२,३६—इव		इव	तरह.
४६,३९,२१,३—इह		इह	इस जगह.

ई

५—ईहा		ईहा	मतिज्ञान-विशेष पृं०१३.

उ

६०,४५,३०,२२—उ		तु	तो, फिर, ही, किन्तु.
३०-५२—उच्च		उच्च	ऊँचा, उच्चगोत्र.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
४६,२५—उज्जोय	उद्योत	उद्योतनामकर्म पृ० ९३.
४६—उज्जोयए	उद्+द्युत्—उद्योतते	उद्योत करता है.
४३—उट्ट	उष्ट्र	ऊँट.
४१—उण्ह	उष्ण	उष्णस्पर्शनामकर्म पृ०८७.
२—उत्तर-पगइ	उत्तर-प्रकृति	अवान्तरप्रकृति.
३०—उत्तर-भेय	उत्तर-भेद	अवान्तर भेद.
४६—उत्तरविक्किय	उत्तरवैक्रिय	उत्तरवैक्रियशरीर.
४७,४३,३२,२२ } ४५,५०— } उदअ	उदय	विपाक-फलानुभव.
४७,४४—उदय	उदय	"
११—उपविट्ठ	उपविष्ट	बैठा हुआ.
३१—उभओ	उभयतः	दोनों तरफ.
२२—उभय	उभय	दो.
५६—उम्मग्ग	उन्मार्ग	शास्त्र-विरुद्ध—स्वच्छन्द.
३४—उयर	उदर	पेट.
३४—उर	उरस्	छाती.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
३६,३५—उरल	औदार	औदारिक—स्थूल.
३६—उरालंग	औदाराङ्ग	औदारिकशरीर पृ० ७३.
२४—उवंग	उपाङ्ग	अङ्गोपाङ्गनामकर्म पृ० ५६.
३४—उवंग	उपाङ्ग	अंगुली आदि उपाङ्ग पृ०७५.
४८,२५—उवघाय	उपघात	उपघातनामकर्म पृ० ६५.
५४—उवघाय	उपघात	घात—नाश.
५२—उवभोग	उपभोग	बारबार भोगना.
१६—उवमा	उपमा	समानता.
५०—उवरि	उपरि	ऊपर.
४८—उवहम्मइ	उप+हन्—उपहन्यते	उपघात पाता है.
२५—उस्सास	उच्छ्वास	उच्छ्वासनामकर्म.
४५—उसिणफास	उष्णस्पर्श	उष्णस्पर्शनामकर्म पृ० ८७.

ऊ

गा० प्रा०	सं०	हिं०
३४—ऊरु	ऊरु	जँघा.
४४—ऊससणलद्धि	उच्छ्वसनलब्धि	श्वोसोच्छ्वास की शक्ति पृ० १२
४४—ऊसासनाम	उच्छ्वासनामन्	उच्छ्वासनामकर्म पृ० १२.

गा० गा०	सं०	हिं०
	ए	
६ } ए { एए	एते	ये.
५३ } ए { एयं	एतद्	यह.
५३—एवं	एवं	इस प्रकार.
	ओ	
३३—ओराल	औदार	औदारिकशरीरनां०पृ० ७३.
३७—ओराल	औदार	औदारिकशरीर.
१३—ओसन्नं (दे०)	प्रायः	बहुत कर.
८,४—ओहि	अवधि	अवधिज्ञान. पृ० ११.
१०—ओहि	अवधि	अवधिदर्शन. पृ० ३२
	क	
१९—कट्ठ	काष्ठ	लकड़ा.
४१—कडु	कटुक	कटुकरसनामकर्म पृ० ८९.
४२—कडुय	कटुक	

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१—कम्म	कर्मन्	कर्म पृ० २.
३३—कम्मण	कार्मण	कार्मणशरीर.
६१,१—कम्मविवाग	कर्मविपाक	'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ.
३०,१४—कमसो	क्रमशः	क्रमसे.
५—करण	करण	इन्द्रिय.
४९—करण	करण	करण—शरीर, इन्द्रिय आदि.
१२—करणी	करणी	करनेवाली.
५५—करुणा	करुणा	दया.
५७,५५,१७—कसाय	कषाय	कषायमोहनीकर्म पृ० ४६.
४१—कसाय	कषाय	कषायरसनामकर्म पृ० ८७.
४२—कसिण	कृष्ण	कृष्णवर्णनामकर्म पृ० ८५.
४०—किण्ह	कृष्ण	"
२०—किमिराग	कृमिराग	किरमिजी रंग
१—कीरइ	कृ-क्रियते	किया जाता है.
३९—कीलिया	कीलिका	कीलिकासंहनननाम पृ० ८३
३९—कीलिया	कीलिका	खीला.
२१—कुच्छा	कुत्सा	घिना

गा० प्रा०	सं०	हिं०
५२—कुलाल	कुलाल	कुम्हार.
५३,४८,३५—(कु) कुणइ	करोति	करता है.
८,४—केवल	केवल	केवलज्ञान पृ० ११.
१०—केवल	केवल	केवलदर्शन पृ० ३२.
४७—केवलि	केवलिन्	केवलज्ञानी.
१९—कोह	क्रोध	क्रोधकषाय.

ख

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१५—खइग	क्षायिक	क्षायिक
२०—खंजण	खञ्जन	पहिये की कीचड़.
५५—खंति	क्षान्ति	क्षमा.
१२—खग्ग	खड्ग	तलवार.
२,४१—खर	खर	खरस्पर्शनामकर्म पृ० ८७.
४६—खज्जोय	खद्योत	जुगनू.
६—खलु	खलु	निश्चय.
४०—खुज्ज	कुब्ज	कुब्जसंस्थान पृ० ८४.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
	ग	
४३,३३,२४—गइ	गति	गतिनामकर्म पृ० ५९.
३०—गइयाइ	गत्यादि	गति आदि नामकर्म.
३६—गण	गण	समूह—ढेर.
२४—गंध	गन्ध	गन्धनामकर्म.
६—गमिय	गमिक	गमिकश्रुत पृ० १६.
३१—गह	ग्रह	ग्रहण.
६०—गुणपेहि	गुणप्रेक्षिन्	गुणदर्शी.
४२,४१—गुरु	गुरु	गुरुस्पर्शनामकर्म. पृ० ८७
४७—गुरु	गुरु	भारी.
५५—गुरुभत्ति	गुरुभक्ति	गुरु-सेवा.
५८—गूढहियअ	गूढहृदय	कपटीहृदयवाला.
२०—गोमुत्ति	गोमूत्रिका	गाय के मूत्र की लकीर.
५२,३—गोय	गोत्र	गोत्रकर्म. पृ० ६.
	घ	
२०—घणं	घन	घना—दृढ़.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१८—घायकर	घातकर	नाशकारक.
	च	
४२,३७,२६,२३—च	च	और.
४९,३३,३०—चउ	चतुः	चार.
२५—चउद्दस	चतुर्दशन्	चौदह.
५—चउद्सहा	चतुर्दशधा	चौदह प्रकार का.
१८—चउमास	चतुर्मास	चार महीने.
१९—चउव्विह	चतुर्विध	चार प्रकार का.
४३,४,२—चउहा	चतुर्धा	"
१२—चिंतियत्थ	चिन्तितार्थ	सोचा हुआ काम.
१२—चंकमओ	चङ्क्रमतः	चलने-फिरने वाले को.
९—चक्खु	चक्षुस्	आँख.
१०—चक्खु	चक्षुस्	चक्षुर्दर्शन. पृ० ३२.
१३—चरण	चरण	चारित्र पृ० ३७
५७—चरणमोह	चरणमोह	चारित्रमोहनीयकर्म पृ० ३७.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१७—चरित्तमोहणिय	चारित्रमोहनीय	चारित्रमोहनीयकर्म.
२३—चित्ति	चित्रिन्	चितेरा—चित्रकार.
५६—चेइय	चैत्य	मन्दिर, प्रतिमा.

छ

गा० प्रा०	सं०	हिं०
३०—छ	पष्	छह.
२९—छक्क	षट्क	छह का समूह.
३०—छक्क	पट्क	छह.
३८—छद्धा	पड्धा	छह प्रकार का.
८,५—छद्दा	षड्ढा	"
३९—छेवट्ठ	सेवार्त	सेवार्तसंहनन. पृ० ८३.

ज

गा० प्रा०	सं०	हिं०
४६—जइ	यति	साधु.
३५—जउ	जतु	लाख.
५०—जण	जन	लोक.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
४७—(जन्) जायइ	जायते	होता है.
६१,५६,५४—जयइ	जि-जयति	बाँधता है.
१६—जल	जल	पानी.
४५—जलण	ज्वलन	अग्नि—आग.
२२—जव्वस	यद्वश	जिसके वश.
५१,२६—जस	यशस्	यशःकीर्तिनामकर्म. पृ० १०२.
५१—जसकित्ती	यशःकीर्ति	बड़ाई.
५३,१६—जहा	यथा	जिस प्रकार.
३३,२४—जाइ	जाति	जातिनामकर्म. पृ० ५६.
१८—जाजीव	यावज्जीव	जीवन-पर्यन्त.
५४,२१,१—जिअ	जीव	आत्मा.
६१,६०,५६—जिण	जिन	वीतराग.
१६—जिणधम्म	जिनधर्म	जैनधर्म.
१५—जिय	जीव	जीव-तत्व ४२.
४६,४५—जियंग	जीवाङ्ग	जीव का शरीर.
४९—जीय	जीव	जीव पृ० ४२.

गा० मा०	सं०	हिं०
५३,४७—जीव	जीव	आत्मा.
५५—जुअ	युत	सहित.
४४,३७—जुत्त	युक्त	"
४५,४३,३१—जुय	युत	"
४६—जोइस	ज्योतिष	चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष-मण्डल.
५५—जोग	योग	संयम. पृ० ११५.
झ		
५१—झुणी	ध्वनी	आवाज़
ठ		
११—ठिअ	स्थित	खड़ा
२—ठिइ	स्थिति	स्थिति-बन्ध. पृ० ५.
त		
३६,२२—तण	तृण	घास.
५०,३१,२४—तणु	तनु	शरीरनामकर्म. पृ० ५९

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
५०	तणु	तनु	शरीर.
५८	तणुकसाअ	तनुकषाय	अल्प-कषाय-युक्त.
३४	तणुतिग	तनुत्रिक	तीन शरीर.
३६	तणुनाम	तनुनामन्	शरीरनाम.
४	तत्थ	तत्र	उस में.
२२,२८,२६	तद्	तद्	वह.
३७	तेसिं	तेषाम्	उनका.
२२	सो	सः	वह.
४७	से	तस्य	उसका.
१	तो	तस्मात्	उस कारण से.
२१,१४,९,२ ३८,३६,३५	तं	तत्	वह.
१५,१०	तयं	तकत्	वह.
१०	तस्स	तस्य	उसका.
५३	तेण	तेन	उस से.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
४१,२९,२६—तस	त्रस	त्रसनामकर्म. पृ० ९६.
२८—तसचउ	त्रसचतुष्क	त्रस आदि ४ प्रकृतियाँ पृ०६५.
२६—तसदसग	त्रसदशक	त्रस आदि १० प्रकृतियाँ पृ० ६२.
५८,३८—तहा	तथा	उस प्रकार.
४५—तहिं	तत्र	उस में.
१४—तह्चेव	तथैव	तथा.
४५—ताव	ताप	गर्मी.
४१,३०,२९—ति	त्रि	तीन.
४५,२५—त्ति	इति	समाप्ति-द्योतक.
२३—तिउत्तरसय	त्र्युत्तरशत	एक सौ तीन.
४३—तिग	त्रिक	तीन का समूह.
१६—तिणिसलया	तिनिसलता	बेंत.
४२,४१—तित्त	तिक्त	तिक्तरसनामकर्म. पृ० ८६.
४७,२५—तित्थ	तीर्थ	तीर्थङ्करनामकर्म. पृ० ९४
३१,२३—तिनवइ	त्रिनवति	तिरानवे.
३७—तिन्नि	त्रि	तीन.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
३२	तिय	त्रिक	तीन.
३३,२२	तिरि	तिर्यच्	तिर्यञ्च.
१८,१२	तिरिय	तिर्यच्	”
५८	तिरियाउ	तिर्यगायुस्	तिर्यञ्चायु.
१४	तिविह	त्रिविध	तीन प्रकार का.
३१	तिसय	त्रिशत	एक सौ तीन.
४७	तिहुयण	त्रिभुवन	तीन लोक.
२६,१२	तु	तु	तो.
३७,३२	तेय	तेजस्	तैजस.

थ

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२७	थावर	स्थावर	स्थावरनामकर्म. पृ०
२८	थावरचउक्क	स्थावरचतुष्क	स्थावर आदि ४ प्रकृतियाँ पृ० ६५.
५१,२६	थावरदस	स्थावरदशक	स्थावर आदि १० पृ० १०२.
५०,२६	थिर	स्थिर	स्थिरनामकर्म पृ० १०१.
२८	थिरछक्क	स्थिरषट्क	स्थिर आदि ६ प्रकृतियां ६५.
२२	थी	स्त्री	स्त्री.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
४२—थिणद्धी	स्त्यानर्द्धि	निद्रा-विशेष पृ० ३४.
४९—थूल	स्थूल	स्थूल—मोटा.
	द	
५०—दंत	दन्त	दाँत.
३६—दंताली	दन्ताली	दन्ताली.
१३—दंसण	दर्शन	दर्शन— यथार्थ श्रद्धा० पृ० ३७.
९—दंसणचउ	दर्शनचतुष्क	दर्शनावरणचतुष्क पृ० ३२.
५६,१४—दंसणमोह	दर्शनमोह	दर्शनमोहनीय पृ० ३७.
९,३—दंसणावरण	दर्शनावरण	दर्शनावरणकर्म पृ० ९.
५५—दढधम्म	दृढधर्मन्	धर्म में दृढ.
५८—दाणरुइ	दानरुचि	दान करने की रुचिवाला.
५५—दाण	दान	त्याग—देना.
२२—दाह	दाह	जलना.
१०—दिट्ठि	दृष्टि	आंख.
२—दिट्ठंत	दृष्टान्त	उदाहरण
३२—दिण	दिन	दिवस

गा० प्रा०	सं०	हिं०
३७,२६,३—दु	द्वि	दो.
११—दुक्ख	दुःख	दुःख.
४३,३०—दुग	द्विक	दो.
४२—दुगंध	दुर्गन्ध	दुरभिगन्धनामकर्म.
४४—दुद्धरिस	दुर्धर्ष	अजेय.
२७—दुभग	दुर्भग	दुर्भगनामकर्म. पृ० १०३.
४१—दुरहि	दुरभि	दुरभिगन्धनामकर्म. पृ० ८६.
५७,१७,१३—दुविह	द्विविध	दो प्रकार का.
३२—दुवीस	द्वाविंशति	बाईस.
२७—दुस्सर	दुःस्वर	दुःस्वरनामकर्म. पृ० १०४.
५२,,१२—दुहा	द्विधा	दो प्रकार से.
४६—देव	देव	देवता.
५६—देवदव्व	देवद्रव्य	देव के उद्देश्य से इकट्ठा किया हुआ द्रव्य.
६१—देविंदसूरि	देवेन्द्रसूरि	देवेन्द्रसूरि.
५६—देसणा	देशना	उपदेश

गा० मा०	सं०	हिं०
१६—द्दोस	द्वेष	अप्रीति.
	ध	
५—धारणा	धारणा	मतिज्ञान-विशेष पृ० २४
१२—धारा	धारा	धार.
	न	
४७,४५,१६—न ५३.	न	निषेध.
२२—नगर	नगर	शहर.
२२—नपु	नपुँसक	नपुँसक, जिस में स्त्री-पुरुष दोनों के लक्षण हैं.
४—नयण	नेत्र	आँख.
३२,२३,१८—नर	नर	मनुष्यगति.
२२—नर	नर	पुरुष—मरद.
१३—नरअ	नरक	अधोलोक, जिस में दुःख अधिक है.
२३,१८—नरय	नरक	नरकगति.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
५७—नरयाउ	नरकायुस्	नरकआयु.
३७,१७,३—नव	नवन्	नव.
४,३—नाण	ज्ञान	विशेष उपयोग.
५०—नाभि	नाभि	नाभि.
२७,३—नाम	नामन्	नामकर्म. पृ० ९
२३—नामकम्म	नामकर्मन्	कर्म-विशेष. पृ० ५८
३८—नाराय	नाराच	संहनन-विशेष पृ० ८२
३९—नाराय	नाराच	दोनों ओर मर्कट-बन्ध-रूप अस्थि-रचना.
१६—नालियरदीव	नालिकेरद्वीप	द्वीप-विशेष. पृ० ४४.
५६—नासणा	नाशना	विनाश.
४०—निग्गोह	न्यग्रोध	न्यग्रोधपरिमण्डलसंहनन. पृ० ८४.
६०—निच्च	नित्य	सदा.
३८—निचअ	निचय	रचना.
१५—निज्जरणा	निर्जरणा	निर्जरा-तत्त्व. पृ० ४३.
११—निद्दा	निद्रा	निद्रा. पृ० ३३.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
११—निद्दानिद्दा	निद्रानिद्रा.	गाढ़ निद्रा. पृ० ३४.
५४—निन्हव	निन्हव	अपलाप—छिपाना.
३५—निवद्ध	निवद्ध	बँधा हुआ.
३८—निम्माण	निर्माण	निर्माणनामकर्म. पृ० ६५.
२५—निमिण	"	"
६,४३—निय	निज	अपना.
४८—नियमण	नियमन	संगठन—व्यवस्थापन.
३३—निरय	निरय	नरक
०,१२—नीय	नीच	नीचगोत्र. पृ० १०५
२,३०—नील	नील	नीलवर्णनामकर्म. पृ० ८५
३५—नेय	ज्ञेय	जानने योग्य.
१७—नोकसाय	नोकषाय	मोहनीयकर्म-विशेष. पृ० ४६

प

गा० प्रा०	सं०	हिं०
२२—पइ	प्रति	तरफ.
२—पएस	प्रदेश	प्रदेशबन्ध. पृ० ५

गा० प्रा०	सं०	हिं०
५४—पओस	प्रद्वेष	अप्रीति.
३०—पंच	पञ्चन्	पाँच.
३६—पंचविह	पञ्चविध	पाँच प्रकार का.
६०—(प्र+कृ) पकुणइ	प्रकरोति	करता है.
१८—पक्खग	पक्षग	पक्षगामी—पक्ष-पर्यन्त स्थायी.
१७—पच्चक्खाण	प्रत्याख्यान	प्रत्याख्यानावरण-कषाय. पृ० ४७
४९,२६—पज्जत्त	पर्याप्त	पर्याप्तनामकर्म. पृ० ९७
४९—पज्जत्ति	पर्याप्ति	पुद्गलोपचय-जन्य शक्ति-विशेष.
७—पज्जय	पर्याय	पर्यायश्रुत. पृ० २२
३९—पट्ट	पट्ट	वेठन.
५३—पडिकूल	प्रतिकूल	विमुख—विरुद्ध.
५६—पडिणीय	प्रत्यनीक	अहितेच्छु.
५४—पडिणीयत्तण	प्रत्यनीकत्व	शत्रुता.
११—पडिबोह	प्रतिबोध	जागना.
७—पडिवत्ति	प्रतिपत्ति	प्रतिपत्ति-श्रुत. पृ० २३

गा० प्रा०	सं०	हिं०
८—पडिवाइ	प्रतिपाति	प्रतिपातिअवधिज्ञान. पृ० २६
९—पट्ट	पट्ट	पट्टी.
३४—पढम	प्रथम	पहला.
३३,३०,३—पण	पञ्चन्	पाँच.
९—पणनिद्दा	पञ्चनिद्रा	निद्रा आदि ५ दर्शनावरणीय.
३—पणविह	पञ्चविध	पाँच प्रकार का.
२१—पणसट्ठि	पञ्चषष्टि	पैंसठ.
४९—पणिंदिय	पञ्चेन्द्रिय	पाँचइन्द्रिय-सम्पन्न.
२५—पत्तेय	प्रत्येक	अवान्तर भेद-रहित प्रकृति.
५०,२६—पत्तेय	प्रत्येक	प्रत्येकनामकर्म. पृ० १००
५०—पत्तेयतणु	प्रत्येकतनु	जिस का स्वामी एक जीव है वैसी देह.
३१—पनर	पञ्चदशन्	पन्दरह.
३४—पमुह	प्रमुख	प्रभृति—वगैरह.
७—पय	पद	पदश्रुत. पृ० २२.
२—पयइ	प्रकृति	प्रकृति-बन्ध. पृ० ४.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
५८—पयइ	प्रकृति	स्वभाव
२६,२८—पयडि	प्रकृति	कर्मप्रकृति.
१२—पयलपयला	प्रचलाप्रचला	निद्रा-विशेष. पृ० ३४.
२२—पयला	प्रचला	,, ,,
४६—पयासरूव	प्रकाशरूप	प्रकाशमान स्वरूप.
४४—पर	पर	अन्य.
४४,२५—परघाश्र	पराघात	पराघातनामकर्म. पृ० ६१.
६१—परायण	परायण	तत्पर.
५७—परिग्गह	परिग्रह	आसक्ति.
४४—पाणि	प्राणिन्	जीव.
१५—पाव	पाप	पाप-तत्त्व. पृ० ४२
७—पाहुड	प्राभृत	प्राभृत श्रुत. पृ० २३
७—पाहुडपाहुड	प्राभृतप्राभृत	प्राभृतप्राभृतश्रुत. पृ० २३
५७,४४—पि	अपि	भी.
३४—पिट्ठि	पृष्ठ	पीठ.
२५—पिंडपयडि	पिण्डप्रकृति	अवान्तरभेदवाली प्रकृति.

गा० मा०	सं०	हिं०
३६,३५—पुग्गल	पुद्गल	रूप, रस आदि गुणवाला पदार्थ.
४७—पुज्ज	पूज्य	पूजनीय.
१९—पुढवि	पृथिवी	जमीन.
५—पुण्ण	पुण्य	पुण्य-तत्व.पृ० ४२.
२२—पुरिस	पुरुष	मरद.
७—पुव्व	पूर्व	पूर्वश्रुत. पृ० २४.
४३—पुव्वी	पूर्वी	आनुपूर्वी.
६१—पूया	पूजा	पूजा—बहुमान.
	फ	
४१,२४—फास	स्पर्श	स्पर्शनामकर्म. पृ० ६०
२२—फुंफुमा (दे०)	( )	करीषाग्नि—कण्डे की आग.
	ब	
१५—बंध	बन्ध	बन्ध-तत्व. पृ० ४३.
३२—बंध	बन्ध	बन्ध-प्रकरण.
३५,३१,२४—बंधण ३७,३६.	बन्धन	बन्धननामकर्म. पृ० ५९-७६.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
३५	बज्झंतय	बध्यमानक	वर्तमान में बँधने वाला.
१२	बल	बल	बल.
५७	बंधइ	बन्ध्-बध्नाति	बाँधता है.
४४	बलि	बलिन्	बलवान्.
१५	बहुभेय	बहुभेद	बहुत प्रकार का.
४१,२६	बायर	बादर	बादरनामकर्म. पृ० ६६
४१	बायर	बादर	स्थूल.
२३	बायाल	द्विचत्वारिंशत्	बयालीस.
५१	बालतव	बालतपस्	अज्ञान-पूर्वक तप करने वाला.
३४	बाहु	बाहु	भुजा.
४१	बि	द्वि	दो.
३३	बिय	द्विक	दो.

भ

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१	भण्णए	भण्-भण्यते	कहा जाता है.
६०	भत्त	भक्त	सेवक.

गा० गा०	सं०	हिं०
२१—भय	भग	डर.
५२—भुंभल	भृंगल	मद्य-पात्र
५,२—भेय	भेद	प्रकार.
५२—भोग	भोग	भोगना

म

गा० गा०	सं०	हिं०
४—मइ	मति	मतिज्ञान. पृ० ११
४—मइनाण	मतिज्ञान	”
३६—मक्कडबंध	मर्कटबन्ध	मर्कट के समान बन्ध.
५६—मग्ग	मार्ग	राह—परम्परा.
१३—मज्ज	मद्य	शराब.
५८—मज्झिमगुण	मध्यमगुण	मध्यमगुणी.
४—मण	मनस्	मनःपर्यायज्ञान. पृ० ११
५७,४—मण	”	मन—आभ्यन्तर-इन्द्रिय.
८—मणनाण	मनोज्ञान	मनःपर्यायज्ञान. पृ० ११
१६—मणु	मनुज	मनुष्य
१३—मणुअ	मनुज	”

गा० प्रा०	सं०	हिं०
६०—मय	मद	घमंड.
५७—महारंभ	महारम्भ	हिंसा-जनक महती प्रवृत्ति.
१२—महु	मधु	शहद.
५१,४१—महुर	मधुर	मधुररसनामकर्म. पृ० ८७
५१—महुर	,,	मीठा.
१६—माण	मान	अभिमान.
५—माणस	मानस	मन.
२०—माया	माया	कपट.
४१—मिउ	मृदु	मृदुस्पर्शनामकर्म. पृ० ८७
२०—मिंढ (दे०)	( )	मेष—भेड़
१४—मिच्छत्त	मिथ्यात्व	मिथ्यात्वमोहनीय. पृ० ४४
१६—मिच्छा	मिथ्या	,,
१६,१४—मीस	मिश्र	मिश्रमोहनीय. पृ० ४४
३२—मीसय	मिश्रक	मिश्रमोहनीय ,,
१५—मुक्ख	मोक्ष	मोक्षतत्त्व. पृ० ४३
५६—मुणि	मुनि	साधु.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२	मूलपगइ	मूलप्रकृति	मुख्य-प्रकृति.
२	मोयग	मोदक	लड्डू
१३,३	मोह	मोह	मोहनीयकर्म. पृ० ६
१३	मोहणीय	मोहनीय	मोहनीयकर्म. पृ० ६

य

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
३६,१७,७	य	च	और
५८			
३६,३५,६	ज — जं	यत्	जो.
४५	ज — जं	यत्	क्योंकि
२१	ज — जस्स	यस्य	जिसका.
१	ज — जणं	येन	जिस कारण.
१५	ज — जेणं	येन	जिस से

र

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
५७	रत्त	रत	आसक्त.
२१	रइ	रति	प्रेम — अनुराग.

गा० प्रा०	सं०	हि०
४५—रविबिंब	रविबिम्ब	सूर्य-मण्डल.
२—रस	रस	रस.
४१,२४—रस	रस	रसनामकर्म. पृ० ६०
६०—रहिअ	रहित	त्यक्त.
१९—राई	राजी	रेखा—लकीर.
१६—राग	राग	प्रीति—ममता
५३—राय	राजन्	राजा.
८—रिउमइ	ऋजुमति	मनःपर्यायज्ञान-विशेष. पृ० २७
२९—रिसह	ऋषभ	पट्ट—बेठन.
३८—रिसहनाराय	ऋषभनाराच	ऋषभनाराचसंहनन पृ० ८२
६०—रुइ	रुचि	अभिलाप.
४२,४१—रुक्ख	रूक्ष	रूक्षस्पर्शनामकर्म. पृ० ८७
५७—रुद्द	रुद्र	क्रूर.
१९—रेणु	रेणु	धूल.
	ल	
४८—लंबिगा	लम्बिका	प्रतिजिह्वा—पड़जीभ.

गा० प्रा०	सं०	हि०
४१—लघु	लघु	लघुस्पर्शनामकर्म. पृ० ८७
४९—लद्धि	लब्धि	लब्धि—शक्ति-विशेष.
४७—लहुय	लघुक	हलका.
५२—लाभ	लाभ	प्राप्ति.
१२—लित्त	लिप्त	लगा हुआ
६१—लिहिअ	लिख्—लिखित	लिखा हुआ.
१२—लिहणा	लेहन	चाटना.
५१—लोय	लोक	प्राणिवर्ग.
२०—लोह	लोभ	ममता.
४०—लोहिय	लोहित	लोहितवर्णनामकर्म. पृ० ८५

व

गा० प्रा०	सं०	हि०
५—व	वा	अथवा.
३६,१३,१२—व	इव	जैसा.
४६,४३,६—व्व	इव	जैसा.
४—वंजणवग्गह	व्यञ्जनावग्रह	मतिज्ञान-विशेष. पृ० १२
१—वंदिय	(वंद्) वन्दित्वा	वंदन करके.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
२०—वंसिमूल	वंशमूल	बाँसकी जड़.
४३—वक्क	वक्र	विग्रह—टेढ़ा
१—(वच्) वुच्छं	वक्ष्ये	कहूँगा.
३९—वज्ज	वज्र	खीला.
३८—वज्जरिसहनाराय	वज्रऋषभनाराच	वज्रऋषभनाराचसंहनन. पृ० ८२
८—वड्ढमाणय	वर्धमानक	अवधिज्ञान-विशेष. पृ० २६
२४—वण्ण	वर्ण	वर्णनामकर्म. पृ० ६०
३१,२९—वण्णचउ	वर्णचतुष्क	वर्ण आदि ४ प्रकृतियां. पृ० ६६
७—वत्थु	वस्तु	वस्तुश्रुत. पृ० २४
४०—वन्न	वर्ण	वर्णनामकर्म. पृ० ६०
५५—वय	व्रत	नियम.
१८—वरिस	वर्ष	बरस—साल.
४३—वस	वृष	बैल.
४४—वस	वश	अधीनता.
३१,२१—वा	वा	अथवा.
४०—वामण	वामन	वामनसंस्थाननामकर्म. पृ० ८५

गा० प्रा०	सं०	हिं०
५३,४७,६—वि	अपि	भी.
३७—विउव्व	वैक्रिय	वैक्रियशरीर.
३७,३३—विउव्व	वैक्रिय	वैक्रियशरीरनामकर्म. पृ० ७३
६१,५३,५२—विग्घ	विघ्न	अन्तरायकर्म. पृ० ९
६१—विग्घकर	विघ्नकर	प्रतिबन्ध करने वाला.
५५—विजय	विजय	जय.
४—विण	विना	विना—सिवाय.
९—विन्ति	वेत्रिन्	दरबान.
२९,२८—विभासा	विभाषा	परिभाषा—संकेत.
८—विमलमइ	विमलमति	मनःपर्यायज्ञान-विशेष. पृ० २७
५१—विवज्जत्थ	विपर्यस्त	विपरीत.
५५—विवज्जय	विपर्यय	उलटा.
१६—विवरीय	विपरीत	विपरीत—उलटा.
५७—विविस	विवश	अधीन.
२३—विह	विध	प्रकार.
४३,२४—विहगगइ	विहायोगति	विहायोगतिनामकर्म.

गा० मा०	सं०	हिं०
५७—विसय	विषय	भोग.
८—विहा	विधा	प्रकार
१—वीरजिण	वीरजिन	श्रीमहावीर तीर्थङ्कर.
५२—वीरिअ	वीर्य	पराक्रम.
३२,२७—वीस	विंशति	वीस.
५—वीसहा	विंशतिधा	वीस प्रकार का.
२२—वेअ	वेद	वेदमोहनीय. पृ० ९
३—वेय	वेद्य	वेदनीयकर्म पृ० ६
१२—वेयणिय	वेदनीय	"

स

गा० मा०	सं०	हिं०
२९,२८—संखा	संख्या	गिनती.
५६—संघ	सङ्घ	साधु आदि चतुर्विध सङ्घ.
२४—संघयण	संहनन	संहनननामकर्म. पृ० ६०.
३८—संघयण	संहनन	हाड़ों की रचना.
७—संघाय	सङ्घात	श्रुतज्ञान-विशेष पृ० २२.
३१,३६—संघाय	सङ्घात	सङ्घातनामकर्म. पृ० ६०

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२४	संघायण	सङ्घातन	संघातननामकर्म. पृ० ६०
१७	संजलण	संज्वलन	संज्वलन कषाय. पृ० ४७
४०,२४	संठाण	संस्थान	संस्थाननामकर्म. पृ० ६०
३१	संत	सत्	सत्ता.
९	संनि	संज्ञिन्	मनवाला. पृ० १८
३५	संबंध	सम्बन्ध	संयोग.
६	संम	सम्यञ्च्	सम्यग्दृष्टि.
१५	संवर	संवर	संवर-तत्त्व. पृ० ४३
३६	(सं + हन्) संघायइ	संघातयति	इकट्ठा करता है.
३७	सग	स्वक	स्वीय—अपना.
५८	सढ	शठ	धूर्त.
४८	सतणु	स्वतनु	अपना शरीर.
९	सत्त	सप्त	सात.
३२,२३	सत्तट्ठि	सप्तषष्टि	सड़सठ.
३२	सत्ता	सत्ता	कर्म का स्वरूप से अप्रच्यव.
२१	सनिमित्त	सनिमित्त	सहेतुक.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
६	सपज्जवसिय	सपर्यवसित	अन्त-सहित.
६	सपडिवक्ख	सप्रतिपक्ष	विरोधि-सहित.
३२,१४	सम्म	सम्यक्त्व	सम्यक्त्वमोहनीय. पृ. ३८
२२,२०,९	सम	सम	तुल्य.
४८,३५			
४०	समचउरंस	समचतुरस्र	समचतुरस्रसंस्थान. पृ.८४.
१	समासओ	समासतः	संक्षेप से.
३२	सय	शत	सौ.
५९	सरल	सरल	निष्कपट.
२३,१९	सरिस	सदृश	समान.
३३	सरीर	शरीर	शरीरनामकर्म. पृ. ५९.
५१,५०	सव्व	सर्व	सब.
७	ससमास	ससमास	समास-सहित.
१८	सव्वविरइ	सर्वविरति	सर्वविरतिचारित्र.
५८	ससल्ल	सशल्य	माया आदि शल्यसहित.
३७	सहिय	सहित	युक्त.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
४१—साइ	सादि	सादिसंस्थाननाम. पृ. ८४
६—साइय	सादिक	आदि-सहित.
१०—सामन्न	सामान्य	निराकार.
३१—सामन्न	सामान्य	अवान्तर भेद-रहित.
२०—सामाण	समान	समान.
५५,१३—साय	सात	सातवेदनीय. पृ. ३५
२७—साहारण	साधारण	साधारणनाम. पृ. १०३
२०—सिंग	शृङ्ग	सींग.
४१—सिणिद्ध	स्निग्ध	स्निग्धस्पर्शनाम. पृ. ८७
४०—सिय	सित	सितवर्णनाम. पृ. ८५
५०,३४—सिर	शिरस्	मस्तक.
१—सिरि	श्री	लक्ष्मी.
४१—सीअ	शीत	शीतस्पर्शनामकर्म. पृ. ८७.
४२—सीय	शीत	„
१४—सुद्ध	शुद्ध	शुद्ध.
४८—सुत्तहार	सूत्रधार	बढ़ई.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
२६—सुभ	शुभ	शुभनामकर्म. पृ० १०१
४३,४२—सुभ	शुभ	सुंदर—अच्छा.
५०,२६—सुभग	सुभग	सुभगनामकर्म. पृ. १०१
२८—सुभगतिग	सुभगत्रिक	सुभग आदि तीन प्रकृतियाँ.
५,४—सुय	श्रुत	श्रुतज्ञान. पृ० ११
३३,२३,१३—सुर	सुर	देव.
४१—सुरहि	सुरभि	सुरभिगन्धनाम. पृ० ८६
५६—सुराउ	सुरायुस्	देवायु.
५१,२६—सुसर	सुस्वर	सुस्वरनामकर्म. पृ० १०२
५०—सुह	शुभ	शुभनामकर्म. पृ० १०१
५१—सुह	सुख	सुखप्रद.
१०—सुह	सुख	सुख.
५६—सुहनाम	शुभनामन्	शुभनामकर्म.
२८—सुहुमातिग	सूक्ष्मत्रिक	सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण.
२७—सेयर	सेतर	सप्रतिपक्ष.
१८—सेलत्थंभो	शैलस्तम्भ	पत्थर का खंभा.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
४२,२४,१०	सेस	शेष	बाकी.
२१	सोग	शोक	शोक—उदासीनता.
१७	सोलस	षोडशन्	सोलह.

ह

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२३	हडि	हडि	बेड़ी.
५६	हरण	हरण	छीनना.
४०	हलिद्द	हरिद्र	हारिद्रवर्णनामकर्म. पृ० ८५
२०	हलिद्दा	हरिद्रा	हल्दी.
२२,१४	हवइ	भू-भवति	है—होता है.
४४	हवेइ	भू-भवति	होता है.
२१	हास	हास्य	हँसी.
५७,२१	हास्य	हास्य	हास्यमोहनीय. पृ० ५२
६१	हिंसा	हिंसा	वध.
४०	हुंड	हुण्ड	हुण्डसंस्थान. पृ० ८५
१	हेउ	हेतु	कारण.
४४,२१	होइ	भू-भवति	होता है.

कोष के सम्बन्ध में कुछ सूचना।

(१) जिस शब्द के अर्थ के साथ पृ० नं० दिया है वहाँ समझना कि उस शब्द का विशेष अर्थ है और वह उस नं० के पृष्ठ पर लिखा हुआ है।

(२) जिस शब्द के साथ (दे०) अक्षर है वहाँ समझना कि वह शब्द देशीय प्राकृत है।

(३) जिस प्राकृत क्रियापद के साथ संस्कृत धातु दिया है, वहाँ समझना कि वह प्राकृत रूप संस्कृत धातु के प्राकृत आदेश से बना है।

(४) जिस जगह प्राकृत क्रियापद की छाया के साथ संस्कृत प्रकृति निर्दिष्ट की है, वहाँ समझना कि प्राकृत क्रियापद संस्कृत क्रियापद ऊपर से ही बना है; आदेश से नहीं।

(५) तदादि सर्वनाम के प्राकृत रूप साविभक्तिक ही दिये हैं। साथ ही उन की मूल प्रकृति का इस लिये उल्लेख किया है कि ये रूप अमुक प्रकृति के हैं यह सहज में जाना जा सके।

इति पहले कर्मग्रन्थ का हिन्दी-अर्थ-सहित कोष।

मूल कर्मविपाक।

पहिले कर्मग्रन्थ की मूलगाथायें ।

सिरिवीरजिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणंतो भन्नए कम्मं ॥ १ ॥

पयइठिइरसपएसा, तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ।
मूलपगइट्ठउत्तर-पगई अडवन्नसयभेयं ॥ २ ॥

इह नाणदंसणावरण-वेयमोहाउनामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअ-ट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥ ३ ॥

मइसुयओहीमणके-वलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गहचउहा, मणनयण विणिंदियचउक्का ॥ ४ ॥

अत्थुग्गहईहावा-यधारणा करणमाणसेहि छहा ।
इय अट्ठवीसभेयं, चउदसहा वीसहा व सुयं ॥ ५ ॥

अक्खरसन्नीसम्मं, साइअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एए सपडिवक्खा ॥ ६ ॥

पज्जयअक्खरपयसं-घाया पडिवत्ति तह य अणुओगो ।
पाहुडपाहुडपाहुड-वत्थूपुव्वा य ससमासा ॥ ७ ॥

अणुगामिवड्ढमाणय-पडिवाईयरविहा छहा ओही ।
रिउमइ विमल * मई मण-नाणं केवलमिग विहाणं ॥ ८ ॥

एसि जं आवरणं, पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं ।
दंसणचउ पण निद्दा, वित्तिसमं दंसणावरणं ॥ ९ ॥

* " विउल " इत्यपि पाठः ।

चक्खूदिट्ठिअचक्खू-सेसिंदियओहिकेवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं, तस्सावरणं तयं चउद्धा ॥ १० ॥

सुहपडिबोहा निद्दा, निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ठिओवविट्ठ-स्स पयलपयला उ चंकमओ ॥ ११ ॥

दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला ।
महुलित्तखग्गधारा-लिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥ १२ ॥

ओसन्नं सुरमणुए, सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीयं, दुविहं दंसणचरणमोहा ॥ १३ ॥

दंसणमोहं तिविहं, सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥ १४ ॥

जिअअजिअपुण्णपावा-सवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा ।
जेणं सद्दहइ तयं, सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥ १५ ॥

मीसा न रागदोसो, जिणधम्मे अंतमुहु जहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो, मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥ १६ ॥

सोलस कसाय नव नो-कसाय दुविहं चरित्तमोहणीयं ।
अणअप्पच्चक्खाणा, पच्चक्खाणा य संजलणा ॥ १७ ॥

जाजीववरिसचउमा-सपक्खगा नरयतिरियनरअमरा ।
सम्माणुसव्वविरई-अहखायचरित्तघायकरा ॥ १८ ॥

जलरेणुपुढविपव्वय-राईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठिय-सेलत्थंभोवमो माणो ॥ १९ ॥

मायावलेहिगोमु-त्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजण-कद्दमकिमिराग*सामाणो ॥ २० ॥

---

* 'सारित्थो' इत्यपि पाठः

जस्सुदया होइ जिए, हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा, तं इह हासाइमोहणियं ॥ २१ ॥

पुरिसित्थितदुभयं पइ, अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ ।
थीनरनपुवेउदओ, फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥ २२ ॥

सुरनरतिरिनरयाऊ, हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविहं, तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

गइजाइतणुउवंगा, बंधणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवन्नगंधर-सफासअणुपुव्विविहगगई ॥ २४ ॥

पिंडपयडित्ति चउदस, परघाउस्सासआयवुज्जोयं ।
अगुरुलहुतित्थनिमिणो-वघायमिय अट्ठ पत्तेया ॥ २५ ॥

तसबायरपज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुभं च सुभगं च ।
सुसराइज्जजसं तस-दसगं थावरदसं तु इमं ॥ २६ ॥

थावरसुहुमअपज्जं, साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सरणाइज्जाजस-मियनामे सेयरा वीसं ॥ २७ ॥

तसचउथिरछक्कं अथि-रछक्क सुहुमतिगथावरचउक्कं ।
सुभगतिगाइविभासा, * तदाइसंखाहि पयडीहिं ॥ २८ ॥

वण्णचउ अगुरुलहुचउ, तसाइदु-ति-चउर-छक्कमिच्चाइ ।
इअ अन्नावि विभासा, तयाइसंखाहिं पयडीहिं ॥ २९ ॥

गइयाईण उ कमसो, चउपणपणतिपणपंचछच्छक्कं ।
पणदुगपणट्ठचउदुग, इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥ ३० ॥

अडवीसजुया तिनवइ, संते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो, तणूसु सामण्णवण्णचऊ ॥ ३१ ॥

---

* " तयाइ " इत्यपि पाठः ।

इय सत्तट्ठी बंधो-दए य न य सम्ममीसया बंधे ।
बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसट्ठवण्णसयं ॥ ३२ ॥

निरयतिरिनरसुरगई, इगबियतियचउपणिंदिजाईओ ।
ओरालविउव्वाहा-रगतेयकम्मण पण सरीरा ॥ ३३ ॥

बाहूरु पिट्ठि सिर उर, उयरंग उवंग अंगुली पमुहा ।
सेसा अंगोवंगा, पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥ ३४ ॥

उरलाइपुग्गलाणं, निबद्धबज्झंतयाण संबंधं ।
जं कुणइ जउसमं तं, * उरलाईबंधणं नेयं ॥ ३५ ॥

जं संघायइ उरला-इपुग्गले तणगणं व दंताली ।
तं संघायं बंधण-मिव तणुनामेण पंचविहं ॥ ३६ ॥

ओरालविउव्वाहा-रयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नवबंधणाणि इयरदु-सहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥ ३७ ॥

संघयणमट्ठिनिचओ, तं छद्धा वज्जरिसहनारायं ।
तह + रिसहं नारायं, नारायं अद्धनारायं ॥ ३८ ॥

कीलिय छेवट्ठं इह, रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
उभओ मक्कडबंधो, नारायं इममुरालंगे ॥ ३९ ॥

समचउरंसं निग्गो-हसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं ।
संठाणा वण्णा किण्ह-नीललोहियहलिद्दसिया ॥ ४० ॥

सुरहिदुरही रसा पण, तित्तकडुकसायअंबिला महुरा ।
फासा§गुरुलहुमिउखर-सीउण्हसिणिद्धरुक्खट्ठा ॥ ४१ ॥

---

* " बंधणमुरलाई तणुनामा " इत्यपि पाठान्तरम् । + " रिसहनारायं " इत्यपि पाठः । § " गुरुलघु " इत्यपि पाठः ।

नीलकसिणं दुगंधं, तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं ।
सीयं च असुहनवगं, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥ ४२ ॥

चहुहगइव्वणुपुव्वी, गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं ।
पुव्वी उदओ वक्के, सुहअसुहवसुट्टविहगगई ॥ ४३ ॥

परघाउदया पाणी, परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो, हवेइ ऊसासनामवसा ॥ ४४ ॥

रविबिंबे उ जियंगं, तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं, लोहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥ ४५ ॥

अणुसिणपयासरूवं, जियंगमुज्जोयए इहुज्जोआ ।
जइदेवुत्तरविक्किय-जोइसखज्जोयमाइ व्व ॥ ४६ ॥

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स वि, पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥ ४७ ॥

अंगोवंगनियमणं, निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥ ४८ ॥
बितिचउपणिंदिय तसा, बायरओ बायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥ ४९ ॥

पत्तेय तणू पत्ते-उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं ।
नाभुवरि सिराइ सुहं, सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥ ५० ॥

सुसरा महुरसुहझुणी, आइज्जा सव्वलोयगिज्झवओ ।
जसओ जसकित्तीओ, थावरदसगं विवज्जत्थं ॥ ५१ ॥

गोयं दुहुच्चनीयं, कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं ।
विग्घं दाणे लाभे, भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥ ५२ ॥

सिरिहरियसमं एयं, जह पडिकूलेण तेण रायाई ।

न कुणइ दाणाईयं, एवं विग्घेण जीवो वि ॥ ५३ ॥

पडिणीयत्तणनिन्हव-उवघायपओसअंतराएणं ।
अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ॥ ५४ ॥

गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ ।
दढधम्माई अज्जइ, सायमसायं विवज्जयओ ॥ ५५ ॥

उमग्गदेसणामग्ग-नासणादेवदव्वहरणेहिं ।
दंसणमोहं जिणमुणि-चेइयसंघाइपडिणीओ ॥ ५६ ॥

दुविहंपि चरणमोहं, कसायहासाइविसयविवसमणो ।
बंधइ निरयाउ महा-रंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥ ५७ ॥

तिरियाउ गूढहियओ, सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ ।
पयईइ तणुकसाओ, दाणरुई मज्झिमगुणो य ॥ ५८ ॥

अविरयमाइ सुराउं, बालतवोकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो अगारविल्लो, सुहनामं अन्नहा असुहं ॥ ५९ ॥

गुणपेही मयरहियो, अज्झयणज्झावणारुई निच्चं ।
पकुणइ जिणाइभत्तो, उच्चं नीयं इयरहा उ ॥ ६० ॥

जिणपूयाविग्घकरो, हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।
इय कम्मविवागोयं, लिहियो देविंदसूरिहिं ॥ ६१ ॥

श्वेताम्बरीय कर्म-विषयक-ग्रन्थ ।

नम्बर.	ग्रन्थ-नाम.	परिमाण.	कर्त्ता.	रचना-समय
१	कर्मप्रकृति †	गा. ४७६	शिवशर्मसूरि.	अनुमान विक्रम संवत् की ५ वीं शताब्दी.
	,, चूर्णी	श्लो. ७०००	अज्ञात.	अज्ञात, किन्तु वि. १२ वीं शताब्दी के पूर्व.
	,, चूर्णी-टिप्पन×	श्लो. १९२०	मुनिचन्द्रसूरि.	वि. की १२ वीं शताब्दी.
	,, वृत्ति †	श्लो. ८०००	मलयगिरि.	वि. की १२-१३ वीं श.

† ऐसे चिह्नवाले ग्रन्थ छप चुके हैं ।

× ऐसे चिह्नवाले ग्रन्थ का परिचय बृहट्टिपनीका मुद्रित जैनग्रन्थावली म पाया जाता है ।

नम्बर.	ग्रन्थ-नाम.	परिमाण.	कर्त्ता.	रचना-समय
	,, वृत्ति †	श्लो. १३०००	श्रीयशोविजयोपाध्याय	वि. की १८ वीं श.
२	पञ्चसङ्ग्रह †	गा. ९६३	श्रीचन्द्रर्षिमहत्तर	अनु. वि. की ७ वीं. श.
	,, स्वोपज्ञवृत्ति	श्लो. ९०००	श्रीचन्द्रर्षिमहत्तर	,,
	,, बृहद्वृत्ति	श्लो. १८८५०	मलयगिरिसूरि	वि. की १२-१३ वीं श.
	,, दीपक ×	श्लो. २५००	जिनेश्वरसूरि-शिष्य वामदेव	अज्ञात
३	प्राचीन छह कर्मग्रन्थ	गा. ५६७		
	(१) कर्मविपाक †	गा. १६८	गर्गर्षि	वि. की १० वीं श.
	,, वृत्ति †	श्लो. ९२२	परमानन्दसूरि	वि. की १२-१३ वीं श.

,, व्याख्या †	श्लो. १०००	अज्ञात	अज्ञात, किन्तु वि. सं. १२७५ के पूर्व
,, टिप्पन ×	श्लो. ४२०	उदयप्रभसूरि	वि. १३ वीं श.
(२) कर्मस्तव †	गा. ५७	अज्ञात	अज्ञात
,, भाष्य †	गा. २४	अज्ञात	अज्ञात
,, भाष्य †	गा. ३२	अज्ञात	अज्ञात
,, वृत्ति †	श्लो. १०९०	श्री गोविन्दाचार्य	अज्ञात, किन्तु वि. १२८८ के पूर्व
,, टिप्पन ×	श्लो. २९२	उदयप्रभसूरि	वि. १३ वीं श.
(३) बन्धस्वामित्व †	गा. ५४	अज्ञात	अज्ञात
,, वृत्ति †	श्लो. ५६०	हरिभद्रसूरि	वि. सं. ११७२
(४) षडशीति †	गा. ८६	जिनवल्लभगणी	वि. १२ वीं श.

नम्बर.	ग्रन्थ-नाम.	परिमाण.	कर्त्ता.	रचना-समय.
	,, भाष्य	गा. २३	अज्ञात	अज्ञात
	,, भाष्य †	गा. ३८	अज्ञात	अज्ञात
	वृत्ति †	श्लो. ८५०	हरिभद्रसूरि	वि. सं. ११७२
	,, वृत्ति †	श्लो. २१४०	मलयगिरिसूरि	वि. १२-१३ वीं श.
	,, वृत्ति	श्लो. १६३०	यशोभद्रसूरि	वि. की १२ वीं श. का अन्त
	,, प्रा. वृत्ति	श्लो. ७५०	रामदेव	वि. १२ वीं श.
	,, विवरण ×	पत्र ३२	मेरुवाचक	अज्ञात
	,, उद्धार ×	श्लो. १६००	अज्ञात	अज्ञात
	,, अवचूरि	श्लो. ७००	अज्ञात	अज्ञात

	(५) शतक	गा. १११	शिवशर्मसूरि	अनु. वि. ५ वीं श.
	,, भाष्य	गा. २४	अज्ञात	अज्ञात
	,, भाष्य	गा. २४	अज्ञात	अज्ञात
	,, बृहद्भाष्य	श्लो. १४१३	चक्रेश्वरसूरि	वि. सं. ११७९
	,, चूर्णि	श्लो. २३२२	अज्ञात	अज्ञात
	,, वृत्ति	श्लो. ३७४०	मलधारी श्रीहेमचंद्रसूरि	वि. १२ वीं. श.
	,, टिप्पन ×	श्लो. ९७४	उदयप्रभसूरि	वि. १३ वीं. श.
	,, अवचूरि	पत्र २५	गुणरत्नसूरि	वि. १५ वीं श.
	(६) सप्ततिका †	गा. ७५	चन्द्रर्षिमहत्तर	अनु. वि. ७ वीं. श.
	,, भाष्य	गा. १९१	अभयदेवसूरि	वि. ११–१२ वीं-श.
	,, चूर्णि ×	पत्र १३२	अज्ञात	अज्ञात

नम्बर.	ग्रन्थ-नाम.	परिमाण.	कर्ता.	रचना-समय.
	,, प्रा. वृत्ति	श्लो. २३००	चन्द्रर्षिमहत्तर	अनु. ७ वीं. श.
	,, वृत्ति †	श्लो. ३७८०	मलयगिरिसूरि	वि. १२-१३ वीं. श.
	,, भाष्यवृत्ति	श्लो. ४१५०	मेरुतुंगसूरि	वि. सं. १४४६
	,, टिप्पन ×	श्लो. ५७४	रामदेव	वि. की १२ वीं. श.
	,, अवचूरि	देखो नव्य कर्मग्रन्थ की अव०	गुणरत्नसूरि	वि. १५ वीं. श.
४	सार्द्धशतक †	गा. १५५	जिनवल्लभगणी	वि. १२ वीं श.
	,, भाष्य	गा. ११०	अज्ञात	अज्ञात
	,, चूर्णी	श्लो. २२००	मुनिचन्द्रसूरि	वि. सं. ११७०

	,, वृत्ति †	श्लो. ३७००	धनेश्वरसूरि	वि. सं. ११७१
	,, प्रा. वृत्ति×	ताड. १५१	चक्रेश्वरसूरि	अज्ञात
	,, वृत्तिटिप्पन	श्लो. १४००	अज्ञात	अज्ञात
५	†पाँच नवीन कर्मग्रन्थ	गा. ३१०	श्रीदेवेन्द्रसूरि	वि. की १३-१४ वीं श.
	,, स्वोपज्ञटीका†	श्लो. १०१३७	,,	,,
	,, अवचूरि ×	श्लो. २९५८	मुनिशेखरसूरि	अज्ञात
	,, अवचूरि	श्लो. ५४०७ *	गुणरत्नसूरि	वि. की १५ वीं. श.
	कर्मस्तवविवरण ×	श्लो. १५०	कमलसंयमोपाध्याय	वि. सं. १५५९
	छह कर्म० बाला-वबोध †	श्लो. १७०००	जयसोमसूरि	

नम्बर.	ग्रन्थ-नाम.	परिमाण.	कर्त्ता.	रचना-समय.
	,, बालावबोध +	श्लो. १२०००	मतिचन्द्रजी	
	,, बालावबोध †	श्लो. १००००	जीवविजयजी	वि. सं. १८०३
६	मनस्थिरीकरणप्रकरण	गा. १६७	महेन्द्रसूरि	वि. सं. १२८४
	,, वृत्ति	श्लो. २३००	स्वोपज्ञ	,,
७	सँस्कृतचारकर्मग्रन्थ †	श्लो. ५६९	जयतिलकसूरि	वि. १५ वीं. श. का आरम्भ
८	कर्मप्रकृतिद्वात्रिंशिका	गा. ३२	अज्ञात	अज्ञात
९	भावप्रकरण †	गा. ३०	विजयविमलगणी	वि. सं. १६२३
	,, स्वोपज्ञवृत्ति †	श्लो. ३२५	,,	,,
१०	बंधहेतूदयत्रिभंगी	गा. ६५	हर्षकुलगणी	वि. १६ वीं श.

	,, वृत्ति	श्लो० ११५०	वानर्षिगणी	वि० सं० १६०२
११	बन्धोदयसत्ताप्रकरण	गा० २४	विजयविमलगणी	वि० सं० १६२३
	,, स्वोपज्ञअवचूरी	श्लो० ३००	,,	,,
१२	कर्मसंवेधप्रकरण +	श्लो० ४००	राजहंस-शिष्य देवचन्द्र	अज्ञात
१३	† कर्मसंवेधभंगप्रकरण	पत्र–१०	अज्ञात	अज्ञात

दिगम्बरीय कर्मविषयक-ग्रन्थ ।

नम्बर.	ग्रन्थ-नाम.	परिमाण.	कर्त्ता.	रचना-समय.
१	महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, या × षट्खंडशास्त्र	श्लो० ३६०००	पुष्पदंत तथा भूतबलि	अनु० वि० ४-५ वीं श०
	,, (क) प्रा० टीका	श्लो० १२०००	कुन्दकुन्दाचार्य	अज्ञात
	,, (ख) टीका	श्लो० ६०००	शामकुण्डाचार्य	अज्ञात
	,, (ग) कर्णा० टीका	श्लो० ५४०००	तुम्बुलूराचार्य	अज्ञात
	,, (घ) सं० टीका	श्लो० ४८०००	समन्तभद्राचार्य	अज्ञात
	,, (च) व्या० टीका	श्लो० १४०००	वप्पदेवगुरु	अज्ञात

	,, (छ) धव० टीका	श्लो० ७२०००	वीरसेन	वि० सं० ९०५ के लगभग
२	कषायप्राभृत	गा० २३६	गुणधर	अनु० वि० ५ वीं श०
	,, (क) चूर्वृत्ति	श्लो० ६०००	यतिवृषभाचार्य	अनु० वि० छट्ठी श०
	,, (ख) उच्चा० वृत्ति	श्लो० १२०००	उच्चारणाचार्य	अज्ञात
	,, (ग) टीका	श्लो० ६०००	शामकुण्डाचार्य	अज्ञात
	,, (घ) चू० व्याख्या	श्लो० ८४००० (कर्मप्राभृत सहित)	तुम्बुलूराचार्य	अज्ञात
	,, (च) प्रा० टीका	श्लो० ६००००	बप्पदेवगुरु	अज्ञात
	,, (छ) ज० टीका	श्लो० ६००००	वीरसेन तथा जिनसेन	वि० ९-१० वीं श०
३	गोम्मटसार	गा० १७०५	नेमिचन्द्र सि. च.	वि० ११ वीं० श०
	,, (क) कर्ना० टीका		चामुण्डराय	वि० ११ वीं श०

नम्बर	ग्रन्थ-नाम	परिमाण	कर्त्ता	रचना-समय
	,, (ख) सं० टीका		केशववर्णी	
	,, (ग) सं० टीका		श्रीमदभयचन्द्र	
	,, (घ) हिं० टीका		टोडरमल्लजी	
४	लब्धिसार	गा० ६५०	नेमिचन्द्र सि. च.	वि० ११ वीं श०
	,, (क) सं० टीका		केशववर्णी	
	,, (ख) हिं० टीका		टोडरमल्लजी	
५	सं० क्षपणासार स०		माधवचन्द्र त्रै.	वि० १०-११-श०
६	सं० पञ्चसङ्ग्रह		अमितगति	वि० सं० १०७३

श्री आत्मानन्द जैनपुस्तक प्रचारक मंडल की पुस्तकें।

(श्रीआत्मारामजी महाराज-रचित)

१	श्रीजैनतत्त्वादर्श चित्र-सहित ...	४)
२	श्रीतत्त्वनिर्णयप्रासाद ...	३)
३	अज्ञानतिमिरभास्कर ...	३)
४	सम्यक्त्वशल्योद्धार	॥≥)
५	चिकागो प्रश्नोत्तर (हिन्दी) ...	१)
६	श्रीजैनधर्मविषयक प्रश्नोत्तर ...	॥)
७	श्रीजैनमतवृत्त	।)
८	जैनधर्म का स्वरूप	≥)
९	पूजासंग्रह	॥-)
१०	श्रीआत्मानन्द जैनगायनसंग्रह ...	≡)

(मुनि श्रीवल्लभविजयजी रचित)

११	श्रीआत्मवल्लभ जैनस्तवनावली	।-)
१२	जैनभानु प्रथम भाग	।-)

(मुनि श्री जिनविजयजी सम्पादित)

१३ कृपारस कोश	...	...	१)
१४ विज्ञप्तित्रिवेणि	...	...	१)
१५ शत्रुंजयतीर्थोद्धार	...	...	॥=)
१६ जैनतत्त्वसार	...	...	=)॥

(पंडित व्रजलालजी अनुवादित)

१७ नवतत्त्व	...	...	।-)
१८ जीवविचार	...	...	≡)
१९ वीतरागस्तोत्र मूल और अर्थ		...	≡)
२० पहिला कर्मग्रन्थ	...	...	१।), १।=)

(पंडित हंसराजजी-रचित)

२१ स्वामी दयानन्द और जैनधर्म	...	॥)
२२ नरमेधयज्ञमीमांसा	...	)।
२३ जैनास्तिकत्वमीमांसा	...	)॥

(श्रीमाणिक्य मुनि-रचित वा अनुवादित)

२४ श्री उत्तराध्ययन सूत्रसार		...	=)
२५ कल्पसूत्र हिन्दी भाषान्तर		...	१॥)
२६ भद्रबाहु और कल्पसूत्र		...	=)
२७ भक्तामर और कल्याणमंदिर अर्थ-सहित			=)
२८ सुबोधरत्नशतकम्	...	...	)॥

२९	,, अर्थ-सहित	...	≡)
३०	हिन्दी दूसरा कर्मग्रन्थ ...	...	॥≡), ॥)
३१	कुमारपालचरित्र ...	...	।≡)
३२	दयानन्दकुतर्कतिमिरतरणि	...	।≡)
३३	मूर्त्तिमंडन ...	...	।)
३४	जगत जननी ...	...	।-)
३५	तत्त्वार्थसूत्राणि ...	...	-)
३६	नवग्रहशांतिस्त्रोत्रम् ...	...	-)॥
३७	रात्रीभोजन अभक्षविचार	...	)।
३८	कल्युगियों की कुलदेवी	...	)॥।
३९	सदाचाररक्षा ...	...	।-)
४०	चतुर्दश नियमावली ...	...	)॥
४१	अंजनासुन्दरीनाटक ...	...	॥)
४२	भीमज्ञान त्रिंशिका ...	...	।≡)
४३	पं० बालगंगाधर तिलक का व्याख्यान	...	)।
४४	विमलविनोद ...	...	॥≡)
४५	दिव्य जीवन ...	...	॥।)
४६	स्वर्गीय जीवन ...	...	॥≡)
४७	Chicago Prasnotar ...	...	॥।)
४८	गुरु घंटाल का व्याख्यान (१)	...	)॥
४९	परिशिष्टपर्व ...	...	१)
५०	इन्द्रियपराजयदिग्दर्शन ...	...	।≡)

५१ पोपहविधि ... ...)॥

५२ गुरु घंटाल का व्याख्यान (२) ...)॥

५३ रत्नसार प्रथम भाग ... ॥)

५४ जगदुत्पत्ति विचार ... ... -)

५५ ईश्वर का कर्तृत्व ... ...)।

५६ जैनास्तिकत्व विचार ... ...)।

५७ प्रतिमा छत्तीसी ... ...)॥

५८ धम्मिलकुमारचरित्र ... ... ॥≈)

५९ तेरहपंथी हितशिक्षा ... ... ॥)

६० व्याख्यान दयाधर्म ... ... ≈)

६१ श्रावकाचार ... ... ≈)

६२ धर्मशिक्षा ... ... १)

६३ न्यायशिक्षा ... ... ।)

६४ जैनशिक्षा दिग्दर्शन ... ... ≈)

६५ शिक्षाशतक ... ... -)

६६ पुरुषार्थ दिग्दर्शन ... ... ।)

६७ श्राणी सुलसा ... ... ≈)

६८ ज्ञानथापने की विधि ... ... ≡)

६९ स्तवनसंग्रह ... ... ≈)

७० ही और भी पर विचार ... ... -)॥

७१ विश्वलीला ... ... -)

७२ गौतमपृच्छा ... ... -)।

७३ जम्बूनाटक ... ... ।)

७४ देव परीक्षा	...	...	)॥
७५ महर्षि गुणमाला	...	...	)॥
७६ व्याख्यान देहली	...	...	-)॥
७७ व्याख्यान लुधियाना	...	...	-)॥
७८ श्रीरिषभादि जिन स्तवनावली		...	)॥
७९ संवोधसत्तरि	...	...	-)
८० अनमोल मोती	...	...	-)॥
८१ त्रैलोक्य दीपिका	...	...	॥)
८२ जिनकल्याणक संग्रह	...	...	-)
८३ कमनीय कमलिनी	...	...	।-)
८४ जातीय शिक्षा	...	...	-)
८५ तिलक विलास	...	...	=)
८६ भजन विलास	...	...	=)॥

इन के अतिरिक्त पुस्तकों के लिये बड़ा सूचिपत्र मंगाकर देखिये।

–तथा–

(लाला कन्नोमलजी एम. ए. कृत.)

१ The Study of jainism	...	0-12-0
२ भारतवर्ष के धुरंधर कवि (हिन्दी)	...	।)
३ The master Poets of India	...	0-4-0
४ उपनिषद् रहस्य हिन्दी-अंग्रेजी-सम्मिलित		=)॥
५ अंग्रेजी राज्य के सुख ...	...	॥)
६ The Lord Krishna's Message	...	0-4-0

७ हर्बर्ट स्पेन्सर की ज्ञेय मीमांसा	...	।)
८ हर्बर्ट स्पेन्सर की अज्ञेय मीमांसा	...	।),
६ The Sapt bhangi	...	0-6-0
१० व्याकरण बोध ...	...	≈)॥
११ साहित्य संगीत निरूपण	...	॥≈)
१२ सामाजिक सुधार ...	...	≡)
१३ जैनतत्त्व मीमांसा ...	...	)॥
१४ सप्तभंगी नय ...	...	-)॥
१५ व्याकरण सार ...	...	।≈)
१६ गीता दर्शन ...	...	१॥)

नीचे लिखी पुस्तकें छपरही हैं।

१-हिन्दी तीसरा कर्मग्रन्थ। ३-हिन्दी अर्थ सहित देवसिराइ
२- „ चौथा „ प्रतिक्रमण।

पताः—

श्रीआत्मानन्द जैनपुस्तक प्रचारक मंडल,

रोशन मोहल्ला, आगरा।